THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_176121
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80.9 P18N Accession No. GH 1166

Author पाण्डेय गंगा प्रसाद

Title नीर - क्षीर

This book should be returned on or before the date last marked below.

नीर-क्षीर

लेखक

गंगाप्रसाद पाण्डेय

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस
हज़रतगंज, लखनऊ

पहली बार]　　　१९३९　　　[मूल्य १।)

Printed by K. D. Seth, at the Newul Kishore Press.
LUCKNOW:
1939

निवेदन

साहित्य सृष्टि सनातन है, उसको समझने, समझाने के बहुत से प्रयत्न अनादिकाल से भिन्न-भिन्न साहित्यिकों ने किया है। 'काव्य-कलत्र' के बाद 'नीर-क्षीर' मेरा उसी ओर का दूसरा प्रयास है। यदि साहित्य-प्रेमियों का इससे कुछ भी अनुरंजन हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी।

कोठी स्टेट
कंचनपुर

गंगाप्रसाद पाण्डेय

नीर-क्षीर की विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
१—एक चित्र	....	....	....	३
२—साहित्य-कला	....	....	....	१५
३—जीवन और साहित्य		....	....	२६
४—रंगमंच	....	....	....	४०
५—कहानी और उपन्यास		....	....	६१
६—उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द			....	८६
७—रहस्यवाद और छायावाद		....	....	१०६
८—छायावाद की व्यापकता		....	....	१२०
९—काव्य में वेदना-माधुर्य		....	....	१५५
१०—साहित्योपवन में नवल लताएँ		....	....	१७५
११—ग्राम्य-गीत	....	....	....	१८४
१२—साहित्य में अंग्रेज़ीपन		....	....	१९२
१३—हिंदी-साहित्य का स्वर्ण-युग		....	....	२०४
१४—समालोचना	....	....	....	२१४
१५—हिंदी-साहित्य का भविष्य		....	....	२३४

नीर-क्षीर

एक चित्र

बसंत गाँव का रहनेवाला था। उसने अपना बचपन देहात के हरे-भरे मैदानों में प्राकृतिक दृश्यों के बीच बिताया था। जब वह दस वर्ष का था, तभी से उसके पिताजी ने पासवाले शहर की पाठशाला में उसे भरती करा दिया। बसंत अपनी प्रतिभा से कक्षा में सब लड़कों से तेज़ रहा। इन्ट्रेन्स की परीक्षा उसने बहुत अच्छी श्रेणी में पास की। कालेज में भरती होते-होते बसंत क़रीब उन्नीस वर्ष का हो चुका था। यौवन के इस चढ़ाव में उसकी प्रकृति-सुषमा की आनन्दमयी स्मृति जग पड़ी और वह धीरे-धीरे अपनी पढ़ाई का ध्यान भूलने-सा लगा। जब वह इन्टर पास करके बी० ए० प्रथम वर्ष

में आया तब से उसे कविता का शौक़ लगा और वह कविता के पीछे दिन-रात पागल-सा बना रहता था। यों तो वह आठवीं कक्षा से ही कविता के नाम पर तुकबन्दियाँ किया करता था; किन्तु अब तो उसे केवल कवि और कविता ही भली लगती। वह प्रकृतिवादी कवि था।

वह कक्षा में बैठा-बैठा कुछ न कुछ सोचा करता। उसका नित्य का काम था कक्षा में कठपुतले की तरह बैठा रहना और फिर घर आकर किसी से बिना कुछ बोलेचाले भ्रमण के लिए निकल जाना। कभी किसी वाटिका में बैठकर कुछ सोचता, कविता लिखता, कभी किसी कवि की कविता ज़ोर-ज़ोर से गाता। उसे जानने-वाले लोग उसे प्रायः किसी छायादार पेड़ के नीचे या किसी कूल के पास अथवा हरी घास पर लेटे हुए गुनगुनाते सुना करते थे। वह बहुत सुन्दर गुनगुना-गा लेता था। कभी-कभी वह कोकिल के स्वर के साथ स्वर मिलाकर इतना तन्मय हो जाता कि लोगों को दो कोयलों के बोलने का सन्देह-सा होने लगता। उसके लाल-कोमल होठों के खुलते ही शान्ति-सी छा जाती थी। लोग चुपके-चुपके उसके पास जाकर उसका गाना या उसकी कविता सुना करते।

बसंत में सुन्दरता, सच्चरित्रता तथा कविता का मेल सोने में सुगन्ध के समान था। वह लगन का पक्का, प्रकृति का पुजारी और कविता का उपासक था। कभी-कभी वह सजल श्यामल बादलों से आच्छादित आकाश को देखकर ज़ोर से हँस पड़ता, कभी-कभी गिरते हुए फूल को देखकर रो पड़ता। उसके लिए ताज़े खिले हुए फूल में, गुनगुन करनेवाले भौंरों में, सन्ध्या और प्रभात में, निशि और निशाकर में, चंचल चिड़ियों की चहल-पहल में, और नदियों की कल-कल छल-छल में संसार का सारा सुख भरा-सा ज्ञात होता था। वह संसार की अन्य सभी बातों को ठुकराकर इन्हीं बातों के दर्शन-मनन में लीन रहता। दिन में वह अपनी प्रिय प्रकृति-सुषमा के दर्शन के लिए शहर के बाहर चला जाता और रात को बँगले के सामनेवाले बाग़ के चौपरे के किनारे बैठा करता। प्रायः रोज़ अपने साथ कोई न कोई काव्य-पुस्तक ले जाता और वहीं बैठकर पढ़ता। उसका विचार था कि प्रकृतिमयी तथा हृदय-भावनामयी कविताओं का आनन्द घर के कोलाहल में नहीं मिलता। यदि वही कविताएँ प्रकृति की समीपता में एकान्त प्रान्त में पढ़ी जायँ तो वे प्रकृति के साथ मनुष्य को अधिक स्वाभाविक और सरल

बनाकर, दोनों के बीच के व्यवधान को हटाकर, मनुष्य को प्रकृति के आन्तरिक सत्य के समीप पहुँचा देती है।

उसने पढ़ा, सोचा और अनुभव किया—सृष्टि का प्रत्येक बीज ज्ञानमय है, इच्छामय है और साथ ही प्रेममय। सभी चेतन हैं। वह सर्व-सर्वत्र-सर्वज्ञ के चिर-चैतन्य भाव से फूलों की, चिड़ियों की, नदियों की, और सभी प्रकृति-दृश्यों की पूजा करने लगा। महाकवि की सुकुमार सौन्दर्य सृष्टि ही उसका निवास थी। वह अनेक-बार अपने बग़ीचे में गुनगुना पड़ता—

कलोलकारी खग-वृन्द कूजिता
सदैव सानन्द मिलिन्द गुंजिता,
रहीं सुकुंजें वन में विराजिता
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी।

कभी-कभी जब उसका मन उदास होता तब वह अनायास किसी अव्यक्त व्यक्ति से प्रश्न कर बैठता—

मेरा मधुकर-पुञ्ज गुञ्जरित,
मञ्जुल कुञ्ज आज क्यों मौन ?

इस प्रकार की अन्य छायावाद की कविताओं ने बसंत के हृदय और प्रकृति के सम्बन्ध में प्राण डाल दिये। वह सोचने लगा—

प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल, स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चञ्चलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं।

कवि के इस कथन का अनुभव उसके जीवन में मिल गया और वह स्वयं भी प्रकृति का एक अंग बन गया। उसे मानव-सृष्टि से कहीं अधिक पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम प्रकृति के उन अंगों में मिलने लगा, जिन्हें जगत् जड़ कहकर छोड़ देता है; कोरी भावुकता की संज्ञा देकर मज़ाक़ उड़ाता है और मनुष्य के मानसिक विकारों की प्रतिच्छाया समझता है। किन्तु बसंत के लिए वही सत्य, परम सत्य बन गये थे।

उसके प्रिय कवि थे, पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा और शेली। शेली को प्रकृति मानव-सृष्टि से अधिक प्रिय और स्पष्ट थी और उसने प्रकृति को विश्वात्मा के मन की लीला, क्रीड़ा या कल्पना माना है। ऐसा बसंत को कक्षा में पढ़ाया गया था और उसने भी अपने अध्ययन से इसे सच पाया। अपने प्रिय कवि बसंत के लिए ऐसे ही

थे मानो दुनिया की दृष्टि से पागल के लिए एकान्त साथी हों। उनके पढ़ने से उसके मन की यह धारणा—फूल-फूल से, पेड़-पेड़ से, पत्ती-पत्ती से और इसी प्रकार सभी प्रकृति-जगत् आपस में हास-विलास एवं प्रेममयी भावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं—और भी दृढ़ हो गई। उसने सोचा कि मनुष्य अपने मायाजाल में फँसे रहने के कारण कभी प्रकृति की ओर ध्यान नहीं देता, इसी से वह उसके सुन्दर सत्यों से अपरिचित-सा रहता है। उसी दिन उसने कक्षा में पढ़ा—

The birds around me hopped and played,
Their thought I can' not measure ;
But the least motion which they made,
It seemed a thrill of pleasure.

इस कविता को गुनगुनाता घर आया। अपने मेस महाराज के बार-बार आग्रह करने पर भी बिना कुछ खाये, वह उसी बग़ीचे में जाकर, एक खिले गुलाब के पास जाकर, एक दिन बैठ गया।

शाम का समय था, हवा धीरे-धीरे चल रही थी, बग़ीचे की कलियाँ अपने वृन्त पर झूम रही थीं। उड़ती हुई तितली कभी उन पर बैठकर दृश्य को इन्द्रधनुषी आवरण दे जाती थी। उस सौन्दर्य सुषमा-दर्शन से ऐसा ज्ञात

होता था मानो बसंत-जैसे प्रकृति-प्रेमी के लिए स्वयं सौन्दर्य-निधि ने उस अनुपम वाटिका की रचना की हो। अचानक बसंत की निमग्नता भंग करते हुए कोकिल बोली, फूल हिले, चोपरे का पानी लहराया जैसे वे सब बसंत को अपने उल्लास का पाठ पढ़ा रहे हों या उसको एक दूसरे जगत् का प्राणी समझकर उसका परिचय पूछ रहे हों। वह हँसा और फिर शीघ्र उदास हो गया, क्योंकि बाद में उसके कई बार चाहने पर भी न हवा चली, न पत्ती हिली, न फूल झूमे, न कोकिल बोली ; कुछ देर चुप रहकर वह गा उठा—

ज्ञात है क्या न प्रात की बात
खिले थे जब बनकर तुम फूल,
भ्रमर बन प्राण लगाने धूल—
पास मैं आया चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात।

अचानक कोकिल कुहुक उठी मानो कह पड़ी हो—'वास्तव में यह एक सच्चा प्रकृति-प्रेमी है, मेरी संगीत की स्वरलहरी से यह काँप गया है, फूलों के झूमने के साथ इसका मन झूम गया है। इसे, अपने संसार के स्वार्थपूर्ण प्रेम ने, समाज के कटुतापूर्ण शिष्टाचार ने, इस उपवन के

अनोखे दृश्य ने, दुनिया की मानव-सृष्टि छोड़कर प्रकृति-मय एकान्त की शरण लेने को बाध्य कर दिया है।'

बसंत अपने प्राकृतिक स्वर्ग-रहस्यचिंतन में डूबा था। कोकिल फुर्र से उड़ गई, अँधेरा हो चला, बाग़ में सन्नाटा छाने लगा। फूल-पत्ते मानो दिन भर के हास-विलास के बाद विश्राम करना चाहते हों। किन्तु बसंत उस समय भी वहाँ से उठना नहीं चाहता था। जाता भी कहाँ, उसे मनुष्यमात्र से विशेष लगाव न था। वह उस बग़ीचे से एक अज्ञात आत्मीयता का अनुभव करने लगा था। उसे मालूम होता था मानो उसे सभी पत्तियाँ, कलियाँ और तितलियाँ अपने साथ रहने का, खेलने का तथा सोने का निमंत्रण एवं प्रलोभन दे रही हों। संध्या के शीतल समीरण के मृदुल थपकियों से बसंत अपने मन में एक मिठास का बोध करने लगा और सोचने लगा—आज मैं भी एक सुमन होता। थोड़ी देर में उसकी भाव-तन्द्रा टूटी और एक बोझ-सा लेकर घर चला गया।

बसंत के साथ रहनेवाले एक मित्र बड़े तार्किक थे। उनका कवित्व और भावुकता पर विश्वास न था। उन्होंने अपने जीवन में केवल दो बार देव के दो कवित्त पढ़े थे और कई बार बसंत को उसके कविता-प्रेम पर डाँट बता

चुके थे। उस दिन बग़ीचे से देर में आने के कारण बसंत से कहने लगे—

'बसंत, क्या अभी बग़ीचे से आ रहे हो ? तुम्हें किसी फूल की पंखुड़ियाँ सहलाने में क्या मज़ा मिलता है, भौंरों की भिनभिनाहट तुम्हें कैसे प्रिय लगती है, शायद तुम्हें मनुष्य से अधिक प्रिय पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े लगते हैं। अच्छा होता यदि ईश्वर तुम्हें एक पेड़ बना देता, तुम प्रार्थना करो कि भगवान् तुम्हें जामुन का एक ठूँठ पेड़ बना दें। आज से यदि रात को बग़ीचे गये तो मैं तुम्हारे पिताजी को पत्र लिख दूँगा।' बसंत ने हँसकर कहा, 'अच्छा, अब नहीं जाऊँगा।'

बसंत ने सोचा अब घर में ही फूल-पत्तियाँ रख लेगा, मन-बहलाव का साधन बना लेगा और अपने कमरे को चारों ओर फूलों से सजा लेगा। कुछ उन्मन-सा अपने कमरे में बैठा बसंत साहित्य-सुषमा उठाकर पढ़ने लगा—

प्राकृतिक दृश्यों के पूर्व साहचर्य के प्रभाव से, प्रेम-भाव से, संस्कार या वासना के रूप में उसके प्रति हमारा प्रेम हमारे हृदय में निहित है। उनके दर्शन या काव्य में उनके प्रदर्शन से अनुरंजन होता है। जो प्रकृति-दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो

गई है और संस्कार सापेक्ष है । मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहँगों को देखकर मुग्ध हो गये हैं ।

बसंत ने सोचा उसके सयाने और शुभचिंतक मित्र भी इसे पढ़ लेते । किन्तु इतने से उसे संतोष नहीं हुआ । उसने सोचा—यदि ईश्वर है, प्रकृति चेतन है, आत्मा सर्वत्र है, प्रेम है तो वह आज जाकर अपने को प्रकृति के समर्पण कर देगा और प्रकृति से ऐसा मिल जायगा कि संसार, समाज उसके अस्तित्व का दूसरा रूप जो प्रकृति से भिन्न है, न देख सकेगा । उसका मन माना नहीं, वह रात को उठकर बग़ीचे में चला ही गया ।

अन्य दिनों की भाँति चोपरे के किनारे बैठ गया । चाँदनी चारो ओर छिटकी थी । सारी प्रकृति स्तब्ध थी । चोपरे का जल भी मानो सो रहा था । वायु भी बन्द थी । हाँ, रजनीगन्धा की सुगन्ध सारे वातावरण को छा रही थी, मानो प्रकृति ने उसे चन्द्रमिलन के लिए उस बाग़ में अकेली अभिसारिका की भाँति छोड़ दिया हो । बसंत

कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा। फिर एक अधखिली कली को पकड़कर कहने लगा—क्या तुम्हारी आकृति की तरह तुम्हारा हृदय भी सुन्दर है ? क्या तुम्हारे हृदय में औरों के प्रेम, सम्मान और वेदना के प्रति सहानुभूति है ? क्या कुछ आत्मत्याग की रुचि है ? यदि है तो आज मुझे अपना लो। यदि तुम-ऐसे सरस-सुन्दर प्राणी भी किसी कातर की पुकार न सुनेंगे तो फिर कौन सुनेगा ? हवा चली, कली टूटकर बसंत के पास गिर पड़ी। उसका मन-मोर नाच उठा जैसे उसने कली का आत्मसमर्पण स्वीकार कर लिया हो। बसंत ने कली को उठाना चाहा; किन्तु वह आनन्दातिरेक के कारण कुछ शिथिल-सा होने लगा। उसके हाथ-पाँव ढीले पड़ गये, मानो किसी जादू का असर हो गया हो, उसे नींद-सी आने लगी, अपने उन तन्द्रिल क्षणों में अपनी भावना तथा कल्पना के अनुकूल उसने एक स्वप्न देखा—उसका सारा घर एक सुन्दर वाटिका बन गया है, उसके बरामदे का हरएक खम्भा मानो पेड़ों के तने का बना है, जिन पर तरह-तरह की हरी-भरी बेलें लहलहा रही हैं। सब सामान फूल-पत्तों का बन गया है। उसके हाथ-पाँव स्वयं कोमल फूलों की टहनियाँ-मात्र हैं। उसका सारा शरीर लाल-नीले फूलों का हो

गया है। कोकिल आकर उसके हाथों में बैठकर बोलती है, तितलियाँ, कलियाँ, फूल सब उसमें और वह सबमें है। वह मानो नन्दनवासी प्रकृति-पुरुष हो गया हो। करवट लेते ही कंकड़ गड़ने से नींद खुल गई, वह ज़ोर से गा पड़ा—

बन भ्रमर सौन्दर्य उपवन में जगत के नित्य भूला,
फूल की मुस्कान पर हो मुग्ध मैं बन फूल फूला।

साहित्य-कला

अनुभूति की प्राची पर ही कला का उदय होता है। कला की जीवित सत्ता के मूल में जो प्राण-प्रवेग का सतत क्रियाशील फ़ौवारा है, उसमें जीवन-रस की संचालिका और संचारिणी मानव-जीवन की प्रकृति अनुभूति ही है। अनुभूति के विद्युत्वृत्त पर अंकुरित कला की चिरन्तन ज्योति अनुभूति की क्षणिक सत्ता के सहारे ही अपना विकास करती है और इस विकास की पूर्णता युग-युग, पीढ़ी-दर-पीढ़ी की मानवीय चेतन-अनुभूति की लहरों पर नाचती हुई अनंत की अमर संज्ञा हो जाती है। यहीं कला की चरम परिणति है—सनातन प्रगति है। मानव के भीतर चेतना का एक निगूढ़ और निरंतर आवेग है। जो उसके सप्राण एवं सजीव होने का मुख्य प्रमाण है।

अनुभूति इसी चेतन-आवेग की सच्ची, सजीव और साकार प्रतिनिधि है। यों तो विचार भी मानव-मन में उद्वेलित सचेतन-शक्ति के प्रतिनिधि होते हैं; किंतु विचारों में निरपेक्ष साकारता ही आ पाती है, सापेक्ष सप्राणता नहीं। अनुभूति में प्राणी की प्राणप्रस्थित सजलता और प्रज्ञा-प्रस्थित कोमलता अनुप्राणित रहती है; वह मानव-जीवन के अमरत्व-प्रद क्षणिक-क्षणों की सबसे कोमल और कमनीय वाणी है। मानव का जीवन केवल जीवन-यापन की जटिल समस्याओं, जीवन की तृप्त अभि-लाषाओं तथा दैनिक कार्यों की आशा-निराशाओं का ही जटिल जाल नहीं है। ये सब तो मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व के मांस-मज्जामय अस्थिपिंजर हैं, मृतक प्राणी के निश्चेष्ट शव-जाल हैं—निष्प्राण मृत्तिका के ढेर-से हैं। प्रगूढ़ आलोक की सतह पर तो आदि से अंत तक मानव-जीवन केवल मृत साँसों के तार में उलझा हुआ एक छाया-रहस्य है, एक सारहीन पहेली है—उसमें कभी-कभी कुछ ऐसे क्षण आकर मिट जाते हैं, जो इस निस्सार और नीरस सत्ता को जीवन के रस से सरस और सफल कर देते हैं। द्रौपदी के दुकूल की भाँति अनंत निष्प्राणता की नींद भंग करनेवाले ये क्षण अपनी अमरता

में मानव को भी अमर कर जाते हैं। इन्हीं क्षणों में जीवन का साफल्य और 'महाजीवन' का सान्निध्य प्रोज्ज्वल है।

सौन्दर्य-उपासना प्राणी के अस्तित्व की प्रथम एवं अंतिम साध है। सौन्दर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं का स्पर्श ही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल-कारण है। आदि-पुरुष का सहज-सरल हृदय आदि-प्रकृति के सौन्दर्य से आवेगपूर्ण हो गया, आँखों में एक प्रतिभा अंकित हो गई, स्मृति के चंचल पट पर एक स्वप्न अपनी क्षणिकता के भीतर अमरता की साधना लेकर नृत्य करने लगा—अंग-प्रत्यंगों में एक विचित्र सिहरन उमड़ पड़ी। उसके होठों पर कुछ हिलने-सा लगा, हाथों में एक मधुर कम्पन मचल उठा—स्वप्न को अमर आकार देने के लिए प्राण-आवेग स्पंदित हो उठा। उपनिषदों के मतानुसार प्राणी के अंतर में स्थित आत्मा उसी महान् आत्मा की आंशिक स्थिति है, उसी महान् कलाकार की एक विच्छिन्न ज्योति-किरण है। अतः मानव भी सौन्दर्य का भावात्मक द्रष्टा है। उसकी स्मृति के कोष में अनेक स्वप्न झाँकते हैं, जो साकार होने के लिए निरन्तर विवश रहते हैं। अपने इन्हीं स्वप्नों को साकार करने की साधना ही मानव का सृष्टि-उत्पादन है। जिस भाँति यह निखिल सृष्टि, सम्पूर्ण दृष्ट प्रकृति उस

महान् कलाकार के स्वप्न की साकार प्रतिमा है, उसी प्रकार मानव भी अपने स्वप्नों की साकार प्रतिमाएँ निर्माण किया करता है—यह सृजन या अनुवादन-साधना ही मानव की कला का मूल तत्त्व है।

इस पृथ्वी की वस्तुएँ, घटनाएँ और दृश्यावलियाँ जब किसी भी भाँति हमारी इन्द्रियों (senses) के संस्पर्श में आती हैं, तो वे हमारे भीतर एक रागात्मक उद्वेग की सृष्टि करती हैं, जो हमारे स्वभावसुलभ कार्य में समाप्त होता है। एक सुनसान वन में सिंह को देखकर सहसा एक स्नायविक स्पंदन हमारी नस-नस में दौड़ जाता है और यदि हम उसको बरबस न शांत करें तो उस स्थल से भागने में ही वह अपनी समाप्ति करता है। यह स्नायविक कंपन, जिसका अंतिम परिणाम वास्तविकता से भागना है, हमारे हृदयों में एक विशेष प्रकार की संज्ञा जाग्रत् कर देता है, जिसको हम भय का भाव कहते हैं। मानव-जीवन का अधिकांश संवेदनशील (sensible) पदार्थों की इन्हीं रागात्मक प्रतिक्रियाओं तथा उनसे संयोजित भावों से निर्मित है। किन्तु मनुष्य में एक विशेष गुण और है—वह है बीते हुए अनुभवों तथा भावों की प्रतिध्वनि को फिर से आह्वान करने की प्रवृत्ति। इसी को हम उसकी कल्पना-

शक्ति के नाम से संबोधित करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के दो प्रकार के जीवन हो जाते हैं—पहला वास्तविक जीवन और दूसरा कल्पना का जीवन। दोनों में बड़ा अंतर है। रागात्मक प्रतिक्रिया (Instinctive reaction), जैसे कि विपत्ति से भागना वास्तविक जीवन की मुख्य विशेषता होती है, और चेतना का समस्त प्रवाह उसी ओर मुड़ा हुआ रहता है। किन्तु काल्पनिक जीवन में ऐसी प्रतिक्रिया आवश्यक नहीं होती और इस प्रकार सारी संज्ञा और चेतना संवेदनशील और भावात्मक पक्ष पर केन्द्रीभूत कर दी जाती है। इस प्रकार हम अपने काल्पनिक जीवन में पदार्थों का एक विभिन्न मूल्य तथा भावसंस्पर्श की एक विभिन्न गति पाते हैं। कला का उद्गम इसी काल्पनिक जगत् से है। यह कल्पना का जगत् किसी व्यक्ति-विशेष की एकाधिकारिणी सम्पत्ति नहीं, वरन् किसी-न-किसी परिमाण में कल्पना-जगत् का कुछ-न-कुछ अंश सभी में सन्निहित रहता है। कला की कृतियाँ मूलतः इसी कल्पना-जगत् से अपना सम्बन्ध रखती हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कला वास्तविक जगत् से बहुत दूर की वस्तु है। स्वरूप तथा तत्त्व की दृष्टि में वास्तविक जगत् से कल्पना-जगत् भिन्न नहीं; केवल अंतर है इन्द्रियों की रागात्मक

प्रतिक्रिया के अस्तित्व का। दूसरे यह भी अभिप्राय नहीं कि वह वास्तविक जगत् की प्रतिलिपि है। संक्षेप में कला काल्पनिक जगत् की अभिव्यक्ति तथा उसकी उत्पादिनी है।

सभी कलाओं की आत्मा के तीन मुख्य तत्त्व हैं—पहला क्रियात्मक या सृजनात्मक (creative) प्रवेग (urge), दूसरा आंतरिक चित्र तथा तीसरा उसका बाहरी अभिव्यंजित स्वरूप। सृजनात्मक प्रवेग एक अस्पष्ट एवं रहस्यमयी स्फूर्ति है, जिसको हम दैविक व्यग्रता (divine unrest) कह सकते हैं। यह बिरले ही क्षणों को अनुरंजित करती है। आंतरिक चित्र वही हमारा ऊपर वर्णित काल्पनिक जगत् है, जिसमें वास्तविक जगत् के पदार्थों के प्रतिबिंब अंकित रहते हैं; और यही प्रतिबिंब-समूह भौतिक अभिव्यंजित रूप धारण कर लेता है। इन तीनों तत्त्वों में कोई भी एक दूसरे से अधिक महत्त्व का नहीं। सभी अपने-अपने परिपूर्ण रूप में वांछनीय हैं। दैविक जागृति होने से अथवा भावना का आदिमूलक होने से सृजनात्मक प्रवेग अकेले कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि यदि परिणामरूप में कोई आंतरिक चित्रण का प्रादुर्भाव न हो तो कोरे स्फूर्ति-कंपन का अभिप्राय ही क्या? और मूल्य ही क्या? ऐसे असंख्य स्फूर्ति-कंपनों

की अस्पष्ट छाया चाहे क्षण-क्षण में अवतरित होती रहे, उससे क्या निर्देश ? उसी भाँति यदि कला का आंतरिक चित्र अभिव्यक्ति के रूप में भौतिक विश्व में न उतरे तो उसकी सत्ता ही क्या है ? उसकी आवश्यकता ही क्या है ? सारांश यह कि कलाकार की प्रतिभा में तीनों तत्त्वों का प्रादुर्भाव, विकास और पूर्ण प्रकाश परम वांछनीय है। सच्चे और उत्कृष्ट कलाकार की आत्मा इन्हीं अविच्छिन्न गुणों से परिपक्व रहती है। ऐसे ही प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों के विषय में कहा जाता है—

'In the history of the Fine Arts, certain individuals have appeared from time to time, whose work has a unique and profound quality, which differentiates them from their contemporaries, making it impossible to classify them in any known category and to ally them with any school because they resemble themselves only, and one another like some spaceless and timeless order of initiates.'

'ललित कला के इतिहास में समय-समय पर कुछ ऐसे व्यक्ति आते हैं, जिनकी कृति में एक निराला और गूढ़ तत्त्व निहित है। जिसके कारण वे अपने समकालीन कलाकारों से विभिन्न हो जाते हैं तथा उनको किसी प्रचलित

प्रणाली एवं ज्ञात श्रेणी में भी विभक्त करना असम्भव हो जाता है ; क्योंकि वे अपने ही सदृश होते हैं, जैसे मानो मौलिक कलाकारों का एक स्थानहीन और समय-हीन क्रम हो।'

आत्मदर्शन कला का मूलउद्देश्य है। अपने में आभ्यंतरिक जो सत्य है, उसे देखने और दिखलाने में ही कलाकार की चरम साधना है। कला की यह निजी 'सत्' की उपासना समष्टिवादी नहीं हो सकती—इसका आदि और अंत दोनों ही व्यष्टिवादी अर्थात् व्यक्तिवादी हैं। समष्टि के भौतिक अंग छूकर कला अपने वास्तविक स्वरूप को खो देगी—वह स्वर्ग की अप्सरा पार्थिव विश्व का खिलौना-मात्र रह जायगी। समाज की वस्तु होकर कला वास्तव में कला न रहेगी। राजनीति अथवा अर्थशास्त्र की भाँति वह भी समाज की समस्याओं में ही अपनी चरम परिणति निर्दिष्ट करती रहेगी। वह इन सारी समस्याओं के परम समाधान, परम सत्य 'महामानव' को न प्राप्त कर सकेगी, जो सृष्टि की मूल प्रेरक शक्ति है, विश्व की केन्द्रीभूत सृजन-स्फूर्ति है। आज का व्यक्ति राजनीति और अर्थशास्त्र में ही मानव-जीवन के चिर-कल्याण के साधन देख रहा है। अपने से विमुख और आत्मा से उदासीन

होकर आज का समाज जगत् के चिरन्तन मंगल-प्रभात के स्वप्न देखता है। समाजवाद के नाम पर जीवन के आत्मिक और सात्त्विक तत्त्वों का जो नृशंस बलिदान हो रहा है, और कला की जो दुर्गति हो रही है, उसके मूल में स्थित उद्देश्यों के साधन कितने प्रमादपूर्ण हैं ? आभ्यंतरिक धरातल से अंकुरित अशांति एवं असंतोष का उपचार ऊपरी सतह पर उगे हुए दोषों के समान किया जा रहा है—वास्तव में प्रगतिशील समाजवादी मूल को न पकड़कर पत्तों से भूल रहे हैं। आज का व्यक्ति समूह में सोचता है, कक्षाओं में सोचता है, और इसका भयंकर परिणाम प्रतिफलित हो रहा है। सभ्यता का विनाश जन्म तथा मरण व्यक्तिगत हैं, एकात्म हैं ; विचार और विकास समष्टि-आत्मक नहीं, वरन् व्यक्तिवादी हैं, स्वयमेव-प्रस्थित हैं—मानव का प्रत्येक चरम सत्य उसका अपना है, एकाकी है। जिस समय मनुष्य एकाकी रहना अथवा 'निज का निजी' होना स्थगित कर देगा, वह जीवन की वास्तविकता तथा आत्मिक सत्य से बहुत दूर पड़ जायगा। यहीं से जड़वाद का प्रारम्भ होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला का प्रस्फुरण अनुभूति के स्रोत से होता है ; और अनुभूति व्यक्ति की ही, केवल

अपनी व्यष्टि की ही हो सकती है, समाज एवं समष्टि की नहीं। इसलिए कला में व्यक्ति की ही अभिव्यंजना होती है, सम्पूर्ण समाज की नहीं। कलाकार अपनी व्यक्तिगत साधना का सम्बल पकड़कर जगत् के मूल में निरन्तर प्रचलित जीवन के संघर्षों से युद्ध करता है, अपने लिए एक साम्राज्य की साधना करता है। इस साधना में जीवन के संघर्ष से उसकी स्नेह-मैत्री हो जाती है; उसकी साधना की वीणा में उसके स्वर के प्रेम-निमंत्रण को स्वीकार कर विश्व-जीवन का स्वर भी मुखरित होने लगता है। यही कलाकार की विश्व-जीवन-अनुभूति है, यही उसकी विश्व-प्रेम भावना है। अपने निज को नगण्य कर मानव कुछ भी नहीं कर सकता। हमारा सम्पूर्ण जीवन अपने को लेकर है, हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ, साधनाएँ और आराधनाएँ हमारे व्यक्तिगत को अपना केन्द्र बनाकर चलती हैं। जीवन-संघर्ष के घोर वनों में निरन्तर पर्यटन कर मानव कुछ अनुभव संचित कर पाता है। परम सत्य की प्राप्ति के मार्ग में वह अपने व्यक्तित्व का आत्मघात कर नहीं चल सकता। कितना अतल जीवन-सागर है! कलाकार इसकी लहर-लहर को वेधकर अपने अनुभव संचित करता है, वे उसके निज के अनुभव न होकर सम्पूर्ण

विश्व के अनुभव हो जाते हैं ; क्योंकि आत्मा का सत्य एक है और कलाकार आत्मदर्शन से उसको पा जाता है। व्यक्ति स्वयं सत्य है, स्वयं चिरन्तन है, स्वयं शाश्वत है। समाज स्वयं सत्य नहीं, स्वयं चिरन्तन नहीं, स्वयं शाश्वत नहीं। इसीलिए व्यक्ति के अनुभव स्वयं सत्य हैं, स्वयं पूर्ण हैं और स्वयं चिरन्तन हैं।

कला मेघ-परी के समान स्वच्छंद एवं विमुक्त है। किसी भी प्रकार का आरोप, नैतिक हो अथवा धार्मिक, उसके लिए परम घातक है। नीति और धर्म भावों को उनके परिणामभूत कार्यों की कसौटी पर कसकर अपनाते हैं ; कला का पथ इससे भिन्न है। कला भावों को केवल भावों में तथा भावों के ही लिए अपनाती है। वह मानव के अंतराल में विचरते स्वप्न की सजीव अभिव्यंजना है, जिसमें भाव ही साधना हैं और भाव ही साध्य। अतः उसका मूल्य उसकी जीवन पर प्रतिक्रिया की दृष्टि से आँकना कितना बड़ा अन्याय होगा ? जीवन की प्रतिक्रिया तथा जीवन पर प्रतिक्रिया का क्षेत्र तो धर्म तथा नीति का है— कला का क्षेत्र तो इससे कहीं ऊपर है। इनके सिद्धांतों का आरोप करने से तो उस स्वच्छंद कोकिला का सहज-सुलभ कंठ अवरुद्ध हो जायगा।

कला का सम्बन्ध हृदय में स्थित चेतना के अंकुर से है। ससीम स्थूलता को पारकर वह असीम सूक्ष्म के उस पार पहुँचती है, जहाँ सत्य और कल्पना दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। विज्ञान और नीति केवल भौतिक संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं, दृष्ट जगत् की सतह पर जो कुछ है, उसका विकास कर सकते हैं; किन्तु भौतिक जीवन और पशु-जीवन कोई दो बात नहीं—वह पूर्ण मानव-जीवन नहीं, भौतिक के साथ मानसिक का समन्वय ही पूर्ण मानव-जीवन है। कला इसी मानसिक जगत् की जननी तथा पुष्ट-पोषिणी है।

आजकल 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार है। इसका अभिप्राय है कि कला अपने ही से संबंधित है; जीवन के किसी सम्पर्क का उसमें चिह्न नहीं तथा उसका जीवन के प्रति कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं। वास्तव में यह सिद्धांत भ्रममूलक है। कला हमारी भावनाओं, हमारी अनुभूतियों की सजीव अभिव्यंजना है और ये भावनाएँ और अनुभूतियाँ हमारे जीवन की ही हैं, सृष्टि के चेतन जगत् की ही हैं। कला हमारे अन्तर्जगत् को व्यंजित करती है और हमारा अंतर्जगत् कोई अन्य लोक की वस्तु नहीं, किसी तारालोक की कल्पना-मूर्ति नहीं, वह इसी बाह्य जगत् की वस्तुओं को अपनी आत्मा में प्रच्छन्न किये

हुए है, वह इसी दृष्ट दिन-प्रतिदिन के भौतिक विश्व को लेकर चलती है। अनुभूति इस जगत् की है, आधार भी इस जगत् का है और उद्रेक तथा प्रतिउद्रेक भी इसी जगत् में होता है। अनुभूति, आधार और उद्रेक का इस जगत् में अस्तित्व केवल जीवन के ही कारण है, जीवन को ही लेकर है। फिर कला जीवन से विच्छिन्न कैसे? और विच्छेद की कल्पना ही क्यों? कलाकार की साधना भी तो जीवन से ही प्रारंभ होकर जीवन में ही निगूढ़ हो जाती है। मूर्त जीवन में अमूर्त जीवन को, स्थूल रूप में सूक्ष्म अरूप को सामीप्य की सम्पत्ति और सिद्धि बनाना ही कलाकार की साधना है। अपनी अनुभूति की अचल तन्मयता में एकात्म अनुभव की भावना में वस्तु-तत्त्व को भेदकर वह चिरंतन प्राण-तत्त्व का उन्माद स्पर्श पाता है और आत्मविस्मृत होकर महान् सत्य की व्यंजना में फूट पड़ता है। क्षणभंगुर शरीर से वह अमर आत्मा की ओर अग्रसर होता है, प्राण को लेकर महाप्राण को पीने दौड़ता है।

कुछ पाश्चात्य आलोचकों का कथन है कि भारतीय कला में यथार्थ का तत्त्व नहीं के बराबर है; किन्तु यह उनके अध्ययन का अभाव है। किसी भी देश की कला को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए प्रथम यह आवश्यक

है कि उस देश की संस्कृति एवं जीवन-धारा का कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लिया जाय। रूपकात्मक अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति की विचारधारा में एक प्रमुख तत्त्व रही है। भारतीय कवि एवं कलाकार बाह्य चित्रण में इतनी प्रगल्भता नहीं दिखलाता; क्योंकि बाह्य तत्त्व से तो सम्पूर्ण प्रकृति भरी पड़ी है। फिर उसके अनुवादमात्र से प्रयोजन ही क्या? वह रसोद्रेक के लिए एक कलात्मक संकेत करता है, जो बाहरी विवरण से अधिक भावोद्रेक करनेवाला है और फिर भारतीय कला को पूर्णतया रूपकात्मक ही कहना भी असत्य है। हमारी संस्कृति में तथा देश में कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जिनका नाम भी पाश्चात्यों ने नहीं सुना होगा; अतः वे पदार्थ भी उन्हें रूपक ज्ञात होते होंगे। योरप में हाथी नहीं होता, अतः भारतीय कला में हाथी के चित्र को देखकर रूपक का उन्हें भ्रम हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रूपक और संकेत द्वारा अभिव्यक्ति विना यथार्थ के नहीं हो सकती। हाँ, यथार्थ को कल्पना के रंग से कुछ अतिरंजित अथवा संश्लिष्ट किया जा सकता है, किन्तु यथार्थ को तो विच्छिन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि यथार्थ ही श्रेष्ठ एवं सच्ची कला का अस्तित्व-स्तंभ है, किन्तु कलात्मक ढंग से वही कला है।

जीवन और साहित्य

मनुष्य में एक बड़ी कमज़ोरी है—वह देखता है और दृश्य-पदार्थ को हज़ारगुना बढ़ाकर सोचने लगता है। जो कुछ भी वह देखता है, उसका दिमाग़ उसको उसी रूप में ग्रहण नहीं कर लेता है, बल्कि उससे एक सहस्र गुना स्वरूप उसकी स्मृति पर मँडराने लगता है। यद्यपि वह जानता है कि इस प्रकार सोचने से हानि भी हो सकती है, और होती है; किन्तु फिर भी वह अपने सोचने की यह अजीब आदत छोड़ता नहीं। प्रसिद्ध अँगरेज़ी कवि 'कीट्स' (Keats) को मनुष्य की इस प्रवृत्ति से बड़ा आश्चर्य होता है—

To Know the Change and feel it,
When there is none to heal it,
Nor numb'd sense to steal it.—

हाँ, तो सोचना और आगे-पीछे की सारी बीती और आनेवाली बातों को एक साथ ही सोच लेना हमारी मानवीय आदत में मिल-सा गया है। अपने चारों ओर हम दिन-रात देखते रहते हैं, और देखा करते हैं जीवन में इतना अंधकार, इतना संघर्ष और इतनी अपूर्णता है—हम मानों इसकी कल्पना से दब-से जाते हैं, एक अज्ञात भार हमारे प्राणों को कुचलता-सा अनुभव होता है—हम आक्रांत हो जाते हैं और सहायता के लिए इधर-उधर देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हमें जो एक सहानुभूति का आश्वासन मिलता है, हमारी संतप्त आत्मा को एक सांत्वना-सी मिलती है, वह अनेक साधनों से आया करती है। साहित्य उन साधनों में से एक है। हमारे जीवन की निरानंद अशांति में साहित्य की ज्योत्स्ना से जो एक शांत-शीतलता मिलती है, उसे ही आनंद का नाम दिया गया है। अतः जीवन आनंद का भिक्षुक है। आनंद-प्राप्ति उसका एक चरम साधन है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तृप्ति-प्राप्ति के प्रयत्नों का

संबद्ध-जाल ही जीवन है। हम स्वयं अपने कुछ नहीं—सम्बन्ध रूप से प्राणि-मात्र उस विकास के वियोजित (fractured) अंश हैं, जिसकी अनंत सत्ता, चैतन्य-शक्ति और आनंद के अनेक साधन हैं; और जो सब साधनों को स्वयं ही न भोग कर कुछ हमारे लिए भी नियत कर देता है। जिसको हम साहित्य कहते हैं वह और कोई अन्य वस्तु नहीं, वरन् उन प्रदत्त साधनों में से ही एक साधन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल रूप से साहित्य आनंद की साधना है। किन्तु साहित्य की साधना के फलस्वरूप उपलब्ध आनंद साधारण मानवीय साधना के आनंद से भिन्न है। कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जो हमारे साधारण दैनिक क्षणों से भिन्न होते हैं—ऐसे क्षणों में हमारा जीवन साधारण मानवीय जीवन के धरातल से उठकर आधिभौतिक महामानव के साम्राज्य में उड़ने लगता है; और एक ऐसी आत्म-विस्मृति की सम्मोहन माया हमको आवृत कर लेती है कि भारी से भारी भौतिक अभाव, शारीरिक संताप और इस पार्थिव जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली विपत्ति भी हमें क्षण भर के लिए तो भूल-सी जाती है—इस समय 'रोटी का राग' और 'क्रांति की आग' का कुछ स्मरण

तक हमको नहीं रहता। हम एक अपनी नवीन सृष्टि बसा लेते हैं; उसमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि हमें अपना, अपने आसपास का तथा अपने भूत-भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता। ऐसे विचित्र क्षणों का अस्तित्व ही आनंद का अस्तित्व है, और ये क्षण हमारे साधारण जीवन के क्षणों से ऊँचे तथा दिव्य होते हैं; अतः इनसे प्राप्त आनंद भी ऊँचा एवं दिव्य होता है। ऐसे क्षणों के महत्त्व का ज्ञान Roman Rolland के नीचे उद्धृत वाक्यों से भली भाँति हो सकता है:—

"These moments are rare but eternal. They rise like bubbles in their existence only to eternalise themselves and the person associated with them. Upon the fretted and fevered heart they drop like honey dew to sweeten and soothe, and instantly we rise from humanity to the plane of super humanity."

"*The Soul Enchanted*"

अर्थात् "ये क्षण बिरले होते हैं; किन्तु हैं अमर। बुद्बुदों-सा अस्तित्व लेकर ये अपने को तथा अपने संपर्कवाले व्यक्ति को अमर बनाने के लिए उदित होते हैं। व्यस्त एवं व्यथित हृदय पर मधु-कण से गिरकर

उसे मधुर बनाते हैं तथा शांति प्रदान करते हैं; और अचानक हम मानवता की संकीर्ण भूमि से उठकर महामानवता की असीम वसुंधरा पर प्रस्थित हो जाते हैं।"

ऐसे ही क्षण साहित्य के स्रष्टा हैं। अतः हम देखते हैं कि साहित्य का आनंद जीवन के आनंद से पावन एवं उच्चकोटि का होता है और चिर-सत्य एवं चिर-सुंदर की आधार-भूमि पर आरूढ़ होकर मधुरता एवं सरसता का दिव्य स्पर्श देने लगता है। साहित्य की आत्मा है सत्-चित्-आनंद का अनुपम अनुभव। साहित्य मानव-भावनाओं एवं अनुभूतियों की प्रथम एवं अंतिम अभिव्यक्ति है; और मानव-भावनाएँ मानव-जीवन से ही जीवित हैं; अतः साहित्य एवं जीवन में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—किसी भी भाँति एक दूसरे का विच्छेद नहीं हो सकता। ऊपर के वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि साहित्य जीवन के कुछ ही क्षणों की अभिव्यक्ति है, जिसका आधार हमारी रागात्मक भावनाओं के सत्यम् एवं शिवम् के स्पर्श में लक्षित है—अतः साहित्य की सृष्टि वहीं होती है, जहाँ पर हमारे भाव, सुन्दरता की शरण लेकर संसार के सामने आनंदमय बनकर उपस्थित होते हैं। कहने का मूल तात्पर्य यह है कि साहित्य की सृष्टि मनोभावों

में है ; और मनोभावों की ऐसी स्थितियों में, जिनसे मनोभावों का उद्रेक हो—अतः सभी चीज़ें साहित्य नहीं हो सकतीं—जीवन की सभी और हरएक स्थिति साहित्य के अंतर्गत स्थान नहीं पा सकती ; राजनीति साहित्य नहीं हो सकती, अर्थशास्त्र साहित्य नहीं हो सकता। 'रोटी' साहित्य नहीं हो सकती, नोन-तेल-लकड़ी साहित्य नहीं हो सकता ; कारण, इनका मनोभावों से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे, सभी राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्र-प्रेमी या रोटी के राग अलापनेवाले नहीं होते—और वास्तव में तो ऐसे महानुभावों की संख्या सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश परिमित ही होती है। अतः किसी भी क्रांतिवाद या प्रगतिशीलतावाद के संकीर्ण एवं अँधेरे कूप में साहित्य के असीम-अनंत सागर को भरने की प्रमादयुक्त चेष्टा करना साहित्य के मर्म का अज्ञान नहीं तो और क्या है ? साहित्य किसी दल-विशेष का एकाधिकार (monopoly) नहीं। वह तो सम्पूर्ण मानव-अंतस्तल की वीणा को समान रूप से झंकृत करनेवाला वह मलय समीरण है, जो एक बाग़ से लेकर दूसरे बाग़ तक तथा अपनी विभेदता में काँटे से लेकर कुसुम तक समान भाव से तथा समान-स्थिर-गंध से बहता है। ऊषा क्षितिज पर

उदित होती है, केवल कमल-दलों को ही खिलाने को नहीं, केवल सुप्त विहंगों को जगाने के लिए ही नहीं ; अपितु उससे समस्त संसृति खिल पड़ती है, समस्त जड़-चेतन जाग पड़ते हैं । साहित्य-ऊषा भी इसी प्रकार जीवन के क्षितिज पर किसी दल-विशेष को ही आनंदमय करने नहीं आती, वरन् उससे प्राणिमात्र के मन आनंद-विभोर हो नाचने लगते हैं । मीठी चीज़ सबको मीठी लगती है—उसका स्वाद सभी के लिए मीठा होता है, किसी को वह कड़वी नहीं लगती । साहित्य की माधुरी प्रचलित प्रगतिशीलतावादियों को या साहित्य में क्रांति के हिमायतियों को कड़वी लगती होगी—हमको संदेह है । आये दिन हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि अमेरिका के अमुक नागरिक ने, जिसके पास अपार धन-राशि थी, आत्म-हत्या कर ली । वह अपने जीवन से ऊब गया था । अकसर हम यह देखते हैं कि सभी कुछ प्राप्त होने पर भी हमारा मन एक अज्ञात अभाव का अनुभव करने लगता है—हम एक अजीब परेशानी में पड़ जाते हैं । इन घटनाओं के मूल में कौन-सा रहस्य है । 'रोटी' की आवश्यकता न होने पर भी, राजनीति के क्षेत्र में 'एलेक्शन' (चुनाव) जीतकर देश के सर्वेसर्वा होने पर

भी, हम न-जाने कौन-से अज्ञात स्पर्श से पीड़ित क्यों हो जाते हैं ? क्यों इस 'करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी' बजने लगती है ? आवश्यकता से पूर्ण शान्त सरोवर में क्यों छितराई-छितराई लहरें उठने लगती हैं ? और क्यों हम कभी-कभी जीवन के सुख और दुख दोनों से उकताकर, विरक्त-से होकर चुपचाप गुनगुनाने लगते हैं—

अकेली वियोग-कथा कहती मैं,
विरागमयी अनुरागवती री
जला जलने की व्यथा सहती मैं !

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य अर्थात् सच्चा साहित्य प्रगतिशीलतावादी (so-called) साहित्य (?) से एक ऊँची चीज़ है—एक भौतिक है तो दूसरा आधि-भौतिक और यदि एक पाशविक है तो दूसरा भौतिक—एक शरद्-निशि की चाँदनी है तो दूसरा बिजली की बत्तियों से छना प्रकाश। एक शान्त-शीतल है तो दूसरा ऐसा प्रकाश, जिससे केवल देखने का काम निकल जाय—वह केवल अंधकार को दूर करने के ही लिए है। और हम देखते हैं कि चाँदनी के होते हुए भी हमें भौतिक वस्तुएँ देखने के लिए या भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दीपक जलाने पड़ते हैं ; किन्तु क्या कभी हमारी

संवेदनशील संज्ञाओं में इन दीपों से भावनाओं की उपज होती है—नहीं। किन्तु जैसे ही हम निरभ्र चाँदनी के शीतल अंचल में अपने अस्तित्व को आवृत कर देते हैं तो क्या किसी बीते स्वर्ण-क्षण की याद एक कसक-कंपन हमारे अंग-प्रत्यंग में नहीं भर देती ; और हम आत्मविस्मृति में आक्रांत-स्वर से नहीं रो पड़ते—

मंजरित आम्र-बन छाया में
हम प्रिये मिले थे प्रथम बार।
ऊपर हरीतिमा नभ-गुञ्जित,
नीचे चन्द्रातप छना - स्फार !

हाँ, तो प्रगतिशीलतावादियों के सामने अब स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य क्या है ! और 'आधुनिक साहित्य जीवन से दूर भाग रहा है'—कहनेवालों को भी मालूम हो गया होगा कि वे ही शायद साहित्य के असली अर्थ को समझने से दूर भाग रहे हैं—बिना जीवन के साहित्य कैसे रचा जा सकेगा ? साहित्य के बीज जीवन की ही भूमि में उगते हैं, उसी में फलते-फूलते हैं, तो क्या ज़मीन को छोड़कर वे हवा में उगेंगे ?—वास्तव में एक आश्चर्य की बात है !

बात यह है कि जीवन और साहित्य में ईश्वर की

दो सबसे बड़ी देन (Blessings) हैं । इन दोनों का समवाय इतना दृढ़ एवं अवश्यंभावी है कि एक के बिना दूसरा जीवित ही नहीं रह सकता—दोनों के सहयोग से दोनों जीवित हैं, सचेत हैं, स्फूर्तिमय हैं और गतिशील हैं । एक के असहयोग (Non-cooperation) से दूसरा निर्जीव एवं निश्चेष्ट है । किन्तु स्मरण रहे कि जीवन की ठोस यथार्थता से साहित्य को भी हाँकना मानों उसका गला घोंटना है । साहित्य जीवन का शृंगार है, जीवन के असाधारण क्षणों का, सम-विषम परिस्थितियों का और चिरन्तन भावनाओं का इतिहास है, अत: उसे जीवन की क्षणिक तथा सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाना एक अक्षम्य भूल है, एक निर्मम अत्याचार है । इस हठ से हम साधारण के लिए असाधारण को, कल्पना के लिए सत्य को और छाया के लिए वस्तु को खो बैठेंगे ।

स्थूल रूप से जीवन अनेक विरोधी क्षणों का, घटनाओं का समष्टिरूप है । साहित्य एक दूसरी चीज़ है—वह है जीवन के संगतियुत नियमित क्षणों का उपार्जित कोष । जीवन में यदि मानवता की विचार-धाराओं की अविकल अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उसे सुसंस्कृत करने की

क्षमता, उसे प्रांजल बनाने की शक्ति, अतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से दोनों एक होकर भी एक नहीं हैं, अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, क्योंकि जीवन में साहित्य है या साहित्य में जीवन—यह अज्ञात है, दोनों साथ-साथ हैं—ज्ञात है। दोनों का सम्बन्ध सौरभ-सुमन का है, काया-छाया का है। दोनों ही सत्य हैं—जीवन ठोस सत्य है तो साहित्य सरस एवं सुन्दर सत्य। जीवन शरीर के वेगों का आधार लेकर चलता है तो साहित्य मन के वेगों का आधार लेकर ; यद्यपि शरीर और मन हमारे जीवन के ही दो आवश्यक अंग हैं और दोनों के समीकरण से ही जीवन पूर्ण है। जीवन, जीवन है, किन्तु जीवन के सभी पहलुओं की साहित्य में स्थापना करना अनुचित और आवश्यक है।

रंगमंच

लेखनी से प्रसूत भावाभिव्यक्ति की समस्त प्रक्रियाओं में नाटक श्रेष्ठ है। आत्म-प्रेरित भावराशि का जितना सम्पूर्ण, जितना सचित्र एवं जितना सजीव चित्रण नाटक में हो सकता है उतना अन्य किसी व्यंजित कला में नहीं। जिस स्वरूप में तथा जिस प्रवेग से भावना और विचार का उद्वेलन हमारे आंतरिक जगत् में होता है और जिस ध्येय के लिए तथा जिस स्वरूप में हमारी आत्मा उनको आकार देने के लिए आकुल हो उठती है; उन सबका परिपूर्ण अवतरण नाटक के अतिरिक्त अन्य किसी अभिव्यक्ति में नहीं हो सकता।

भावना के विकास में प्रेरणा एवं प्रतिप्रेरणा की शक्ति है। भावना में उत्पन्न होने और उत्पादन करने की एक

प्रकृत उत्क्रांति है—जिसके अभाव में कला कल्पना के स्वप्न-बिन्दु की शून्य सम्पत्ति है तथा कलाकार अस्थि-मांस का एक घरौंदा-मात्र। प्रेरणा की सृष्टि-क्रिया से जो स्वरूप हमारे मानस-पट पर अंकित होता है, वह कोई स्थायी एवं ऐसी दृढ़ लकीरों से नहीं बना होता, जिनका कभी ह्रास न हो तथा जो कभी नहीं मिटे—वरन् वे जल के धरातल पर खिंची क्षण-स्थायी लकीर की भाँति होती हैं, जिनका अस्तित्व एक क्षणांश का भी नहीं होता। ऐसे क्षणिक एवं सद्यःनश्वर होनेवाले प्रभाव को, स्वरूप को शाश्वत आकार देना ही कला की प्रोज्ज्वल प्रतिभा है तथा अन्य मानसों में उसका वैसा ही चित्रांकन कलाकार की कला है। इस प्रभाव का व्यक्तीकरण दो प्रकार से होता है। पहला प्रकार है हाव-भाव एवं शारीरिक चेष्टा और प्रचेष्टाओं से हृदय की भावना को प्रकट करना। दूसरा है कोई आधार लेकर चाहे वह ध्वनि का हो, रंग और काग़ज़ का हो, छेनी और पाषाण का हो या लेखनी और स्याही का हो—इन आधारों में से किसी का भी अवलंबन अपनी अंतस्तल की भावना को प्रतिरूप देने के लिए व्यवहार में लाना। प्रत्येक प्रकार अन्तरात्मक प्रदेश की आकार-

हीन एवं सूक्ष्म स्थिति को अपनी सम्पूर्ण परिणति में साकार करने की चेष्टा करता है। किन्तु नाटक में भाव-प्रकाशन एवं आंतरिक चित्रण को प्रतिछवि देने की क्षमता इन सब प्रक्रियाओं से अधिक है। क्योंकि उसमें दोनों प्रकार के उपायों का सम्मिश्रण (assimilation) है—दोनों प्रकार की चेष्टाओं का समीकरण है। काव्य में केवल पठन से और उस पठन पर मानसिक संचालन से ही भावमूर्ति का निर्माण हो सकता है। चित्र में केवल मूल भावनांश के ही दर्शन होते हैं—उससे सम्बन्ध रखने-वाली अन्य भावनाओं का, जिनसे कि उस भावना का स्वरूप विकृत हो सकता है या निखर सकता है, कोई चिह्न भी नहीं मिलता—अत: मूल भावना का स्वरूप अपनी सम्पूर्ण आभा में साकार नहीं हो पाता। क्योंकि सहकारिणी भावनाएँ और विपरीत प्रतिभाव एवं विरोध-मयी स्थितियाँ ही मूल भावना की परिपूर्णता उद्घोषित करती हैं—उनके अभाव में मूल भावना एक आंशिक स्वरूप ही रखती है। संगीत की बात दूसरी है, उसमें सम्पूर्ण भावना व्यञ्जित करने की चेष्टा की जाती है; किन्तु एक तो वह चेष्टा बड़ी ऊँची होती है, दूसरे संगीत की ध्वनि के अंत पर उसका भी अंत हो जाता है, अत:

उसमें एक विशेष ऊँची साधना एवं ज्ञान की आवश्यकता है ; दूसरे उसकी भावना नश्वर, क्षणभंगुर ही रहती है, शाश्वत नहीं हो पाती। शिल्पी की मूर्ति-कला में आधार की स्थायी सत्ता तो होती है, किन्तु चित्र-कला की भाँति उसमें केवल एक ही स्थिति का मूलांकन रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला के प्रत्येक स्वरूप में भावना का आंशिक स्वरूप ही अंकित हो सकता है—परिपूर्ण कभी नहीं। नाट्यकला ही ऐसी एकमात्र कला है, जिसमें परिपूर्ण चित्रांकन अन्य सब प्रकाशवती कलाओं से अधिक साष्टांग एवं सानुरूप होता है। काव्य अथवा लेखन-कला और चित्र-कला दोनों के मिला देने से भी अभिव्यक्ति, नाटक में प्रच्छन्न अभिव्यक्ति की समता नहीं कर सकती। चित्र को देखकर भावाभिव्यक्ति होती है, काव्य को सुनकर या पढ़कर। नाटक में दोनों बातें होती हैं—अर्थात् देखना और सुनना दोनों। किन्तु नाटक का 'देखना' चित्र के देखने से अधिक प्रभावोत्पादक होता है ; क्योंकि उसमें चित्र की भाँति केवल एक ही भाव का संवेदन नहीं रहता, एक ही परिस्थिति का चित्रण नहीं रहता ; किन्तु मूल अथवा केन्द्रस्थ भावना के साथ वहन करनेवाली समस्त सहकारिणी भावनाएँ भी रहती हैं, जो मूल भावना के

स्वरूप को अधिक भास्वर एवं परिपूर्ण बना देती हैं। नाटक का 'सुनना' भी काव्य के 'सुनने' से विशेष प्रभविष्णु एवं प्रांजल होता है ; क्योंकि उसमें क्रियात्मकता एवं प्रतिक्रियात्मकता के तत्त्व रहते हैं, जिनसे स्थितियाँ अपने सभी पहलुओं के साथ प्रकाशमान हो जाती हैं। वास्तव में नाटक, संगीत, नृत्य, काव्य तथा चित्र की एक अपने निजी स्वातंत्र्य में, अपनी स्त्रीय मौलिकता में संयुक्त कला है—वह अपने में ही पूर्ण एवं अपनी ही भित्ति पर आरूढ़ ऐसी व्यंजना है, जिसमें जीवन का अंतर और बाह्य अपने सम्पूर्ण सूक्ष्म दुराव को छोड़कर प्रकृत-नग्न स्वरूप में अवतरित हो जाते हैं—साकार हो जाते हैं।

यह तो हुई नाटक में अभिव्यक्ति का परिमाण-निर्देशन या भावना-चित्रण की मात्रा के विवेचन की बात। अब उसके प्रभाव-प्रसार के ऊपर भी थोड़ा-सा दृष्टिपात कर लेना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। प्रभाव के प्रसरण की क्षमता और स्फूर्ति में भी नाटक सभी कलाओं से बढ़कर है। उसकी 'अपील' कानों और आँखों दोनों प्रकार के प्रग्राह्य (Receptive) तंतुओं (Sources) से प्रवेश पाती है ; और ये दोनों प्रकार की प्रग्राह्य इंद्रियाँ भावना की अपील में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि होती हैं। काव्य की

अपील 'श्रवण' की प्रग्राह्य तंत्री पर झंकृत होती है। श्रवण-यंत्र के सुकुमार तारों में ध्वनि के प्रपात से एक कंपन, एक प्रचेतन-स्पंदन होता है, जिसकी झंकार हृदय और मस्तिष्क के समस्त स्नायुओं को विचलित (Propelled) करने लगती है और उस प्रतिध्वनि की अगणित प्रति-ध्वनियाँ देह के समस्त छिद्रों में एक चेतन लहर व्याप्त कर देती हैं। काव्य के अतिरिक्त अन्य श्राव्य कलाओं की प्रभावोत्पादकता भी इसी प्राकृत शरीर-विज्ञान की नियमावली के अनुसार चलती है। संगीत, काव्य और समस्त ललित कलाएँ श्राव्य की संवेदनाशील ग्रहणिका (Transmutive) प्रवृत्ति पर ही भावना के प्रभाव-संचालन में क्रियाशील रहती हैं।

दृश्यात्मक कलाओं की भावात्मक अपील दृश्य-चेतना से सम्बन्ध रखती है। दृश्य-द्वार की झीनी यवनिका पर चित्रपट की भाँति एक आकार प्रतिबिंबित होने लगता है—जिसका प्रति-आकार स्मृति-पट पर अंकित होकर भावना के द्रव-तरल (Liquidic) पदार्थ में एक विचलन पैदा कर देता है। इस तरल कंपन से ज्ञान-शिराएँ और भाव-तंतु दोनों प्रकार के सूक्ष्म यंत्र स्पंदित होने लगते हैं।

नाटक में श्राव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार की ग्राहिणी

शक्ति का समावेश है—अपील के दोनों द्वार खुले हुए हैं; और सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि अपील दोनों द्वारों से आती है। दोनों प्रकार की ग्राहिणी इन्द्रियों द्वारा भावना आकर अपील की भूमि पर एकाकार हो जाती है। दृश्य-द्वार से बिंब का प्रवेश होता है, भाव का साकार-सजीव चित्र आता है और श्राव्य द्वार से ध्वन्यात्मक चित्र, वाणी का प्रतिबिंब। दोनों का सम्मेलन, दोनों की अद्वैत एकता भावना की सजीव प्रतिमा है। एक द्वार से आलोक आता है और दूसरे से वाणी—एक से वीणा प्रतिबिंबित होती है—दूसरे से राग की ध्वनि और लय।

अब स्पष्टतया अनुमान हो सकता है कि प्रभाव-उत्पादिनी शक्ति नाट्यकला में कितनी मार्मिक एवं विस्तृत है। इसके अतिरिक्त नाटक का प्रभाव सर्व सामान्य (universal) भी है—अक्षरविहीन हृदय से लेकर अक्षर-सम्राट् हृदय पर एक ही सामान्य अपील की परिणति है। आबाल-वृद्ध सभी भावना के कंपन से विचलित हो उठते हैं। काव्य की अपील ग्रहण करने के लिए एक काफ़ी हद तक साक्षारता और शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। चित्र की मार्मिकता समझने के लिए चित्रकला के कुछ सूक्ष्म एवं स्थूल सिद्धांत और तत्त्व जानने आवश्यक होते हैं। संगीत

की भाव-भूमि पर चढ़ने के लिए तो ताल-लय, राग-रागिनी और कुछ आंतरिक भेद-प्रभेद सभी की अपेक्षा रहती है— नृत्य में भी यही समस्या सामने आती है। किन्तु नाटक की स्थली पर अक्षर-ज्ञान और निरक्षरता दोनों का गंगा-जमुनी संगम होता है। इसके समझने, इसको अनुभव करने के लिए कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं, कुछ जानने का बोझ नहीं उठाना पड़ता है—'उम्मेदवारी' (Apprenticeship) का समय और आशा का जीवन नहीं बिताना पड़ता। उसकी अपील सीधी (Direct) होती है—अभेदमयी होती है।

उपर्युक्त रूप में नाटक की क्षमता, शक्ति और प्रभाव के इस विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अभिप्राय यह नहीं है कि नाटक के महत्त्व की महिमा गाई जावे, वरन् मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दी के लेखक और कवि अपनी नाटक के प्रति उपेक्षा-मनोवृत्ति पर थोड़ा-सा विचार करें—वे थोड़ा समय खर्च करके सोचें कि इतनी क्षमताशील एवं भाव-प्रकाशिनी कला आज विस्मृति के अंधे कूप में पड़ी हुई है, आज वह अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। हम हिन्दीवाले आज हमारे साहित्य की सर्वांगीणता पर अपना मस्तक गौरवान्वित करते हैं—

किन्तु ऐसा मालूम होता है कि हम अपने अभिमान में बहुत-सी बातें भूलते जा रहे हैं—नाटक उनमें एक है।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का इतिहास बहुत छोटा है; क्योंकि नाटक का रचना-क्षेत्र हमारे साहित्य में एक परिमित सीमा में ही स्थित है। जिस भाँति भारतेंदु ने सबसे प्रथम हिन्दी-साहित्य में नवीन-नवीन अभिव्यक्तियों का सूत्रपात किया, हिन्दी में नवीन-नवीन प्रकाश-धाराओं को जन्म दिया, उसी भाँति उन्होंने हिन्दी-नाटक की भी उत्पत्ति की। भारतेंदु हमारे साहित्य के सोलह कला-सम्पन्न 'इन्दु' हैं। आज जो भी हमारे साहित्य में हम अंकुरित, पल्लवित एवं फलित देखते हैं, वह सब भारतेंदु की ही वरद लेखनी की प्रसूति है। भारतेंदु से प्रथम हिन्दी में नाटक थे ही नहीं—हाँ, संस्कृत-नाटकों के अनुवाद लक्ष्मणसिंह के द्वारा प्रकाशित हो चुके थे। इनमें से विशेष महत्त्व 'कालिदास' को ही दिया गया था। मौलिक नाटकों की रचना नहीं हो पाई थी। अत: हिन्दी-नाट्य-कला का स्वरूप कैसा होना चाहिए और क्या होना चाहिए आदि समस्याएँ न तो उठी थीं और न उन पर विचार ही हो पाया था। भारतेंदु ने इस स्वरूप पर, इस समस्या पर अपना विचार केन्द्रित किया। अनुवाद उन्होंने

भी किये और वास्तव में वे बड़े सफल अनुवाद हैं ; किन्तु उनका सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने वे अनुवाद उसी ढाँचे में किये, जिसमें कि भावी हिन्दी-नाटकों की रचना होनी चाहिए। सबसे पहले उन्होंने संस्कृत, बँगला और पाश्चात्य नाट्य-कला के सिद्धांतों पर मनन किया और तीनों से ऐसे-ऐसे तत्त्व निकाल लिये, जो हिन्दी के नाटकों की शैली और भावना के अनुरूप पड़ें—इन तीनों का संश्लेषण करके भारतेंदु बाबू ने हिन्दी की नाट्य-कला का स्वरूप निर्धारित कर दिया। इसी स्वरूप में उन्होंने स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए नाटकों के अनुवाद किये और स्वतंत्र मौलिक नाटकों की भी रचना की। भारतेंदु बाबू के नाटकों की भाव-भूमि प्रभिन्नतामयी है (Stretched to various sides of life and time) तथा समय और जीवन के विस्तृत क्षेत्रों और पहलुओं तक प्रसरित है। देश-भक्ति, सामाजिक अवस्था, राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि सभी समकालीन समस्याओं पर उनके नाटक दृष्टि-विक्षेप करते हैं। तत्कालीन बँगला-नाटकों तथा पाश्चात्य नाटकों या अपने ही यहाँ के संस्कृत-नाटकों की भाँति, हृदय-पक्ष की गंभीर आलोचना, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भारतेंदु के नाटकों में

नहीं हैं ; किन्तु इस प्रकार के अभाव की ओर दृष्टिपात करने से प्रथम हमको यह भी देख लेना चाहिए कि भारतेंदु की नाटक-रचना हिन्दी की प्रथम नाटक-रचना है ; और ऐसी रचना है, जिसकी कला का सूत्रपात भी उसके साथ-साथ चलता है। दूसरे भारतेंदु के नाटक, नाटकों के स्वरूप-निदर्शन के निमित्त ही लिखे गये हैं ; और साथ ही साथ इनका उद्देश यह भी है कि जनता में नाटकों के प्रति रुचि बढ़े तथा लेखकों का ध्यान इस कला की ओर आकृष्ट हो।

भारतेंदु के पश्चात् नाटक के साहित्य में कुछ दिनों तक कोई उल्लेखनीय रचना प्रसूत नहीं हुई। लाला सीताराम ने शेक्सपियर तथा कालिदास के नाटकों के अनुवाद छपवाये, जिनमें नाट्य और नाटक की आत्मा का कोई विशेष सफल अवतरण नहीं होने पाया। किन्तु 'प्रसाद' की तूलिका से नाट्यात्मक अभिव्यक्ति के सृजन होने के साथ ही हिन्दी-नाटक-साहित्य में एक नवीन जागृति उपस्थित हो गई। हिन्दी के नाटक-साहित्य में प्रारंभ से लेकर अंत तक यदि कोई नाटक की प्रतिभा प्रगूढ़ दृष्टिगत होती है, तो वह प्रसादजी की भावात्मक लेखनी में। मौलिक रूप में और प्रभूत प्रतिभा के दृष्टिकोण से भी जयशंकर-प्रसाद ही हिन्दी के एकमात्र सफल एवं साहित्यिक नाटक-

कार हैं। प्रसादजी के नाटकों की रंगभूमि भारत के अतीत की प्रतिच्छाया है। प्रसादजी मूलत: करुणा के चित्रकार हैं; और भावरूप में ऐसे चित्रकार हैं, जो अपने वर्तमान की गति में, परिस्थिति में एवं स्थिति में बहुत कम परिज्ञान रखते हैं, अत्यल्प मनोरंजन रखते हैं। उनकी करुणा प्रशांत, दिव्य एवं आदर-उद्रेकणी करुणा है, जो वर्तमान के अनिश्चित एवं आवर्तन-परिवर्तन के प्रयोगों में विश्रृंखल प्रांत में नहीं प्राप्त हो सकती। सागर के ऊपरी दृष्ट धरातल पर जो विचलन, जो प्रगति, जो चापल्यमयी परिस्थिति रहती है वही समय के वर्तमान की हुआ करती है--अतीत अतल की अचल एवं गंभीर तह है, जो प्रसुप्त प्रचेतना की प्रशांति से आबद्ध रहती है। प्रसादजी की साधना इसी अतलस्पर्शी करुणा पर केन्द्रित है--इसीलिए उनके नाटकों की कर्मभूमि भारत की अतीत की गोद में प्रस्थित है। बौद्ध-इतिहास का जितना मार्मिक चित्रण प्रसादजी के नाटकों में हो पाया है उतना भारत की किसी भी भाषा के साहित्य में प्राप्त नहीं है। वे हमारे अतीत के भग्नावशेष में प्रसुप्त गौरव, महत्त्व और ममत्व के पुजारी (Priest) 'प्राफिट' (Prophet) हैं।

नाटक का मुख्य उद्देश रंगमंच पर आरूढ़ रहता है।

जो अभिनय की देह में आसीन हो सके वही सफल एवं सजीव नाटक है। वास्तव में अभिनय ही नाटक का मूल ध्येय एवं मूल आत्मा है। यह कहना तो एक अविचार एवं अत्याचार ही होगा कि 'प्रसाद'जी के नाटक मंच पर नहीं खेले जा सकते। क्योंकि जहाँ तक मैं सोचता और समझता हूँ, वहाँ तक तो मुझे पूरा विश्वास है कि कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से 'प्रसाद'जी के नाटक रंगमंच पर अभिनय किये जा सकते हैं। हाँ, उतनी आसानी से नहीं, जितनी से कि एक नाटक किया जाना चाहिए। एक तो उनकी भाषा काव्य एवं कल्पना के क्लिष्ट एवं दुरूह जाल में इतनी जकड़ी रहती है कि साधारण जनता तो क्या कुछ 'असाधारण' जनता भी उद्भ्रांत होकर सिर खुजलाने लगती है। दूसरे उसी अतीत के अनुरूप शृंगार और अभिनय-सामग्री एकत्रित करने और वही वातावरण उपस्थित करने में काफ़ी धन की आवश्यकता है—फिर यह काम किसी प्राचीन इतिहास के प्रकांड पंडित से ही सम्पन्न हो सकता है—तत्कालीन वेशभूषा, रीति-रिवाज, आचार-आचरण, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि का सानुरूप (Exact) चित्रण करने में एक बड़े भारी मस्तिष्क की आवश्यकता है। फिर

भारतीय जनता भी अपने प्राचीन इतिहास से उतनी सम्बद्ध (Connected) नहीं है जितनी कि अन्य देशों की और विशेषकर पाश्चात्य देशों की जनता अपने निज के अतीत से है। आर्य-संस्कृति की विहार-भूमि पर, अन्य संस्कृतियों के आगमन से, एक नवीन भाव-धारा ही चल पड़ी है, जो हमें अपने प्राचीन से बड़ी दूर ले भागी है। इन सभी विचारों (Considerations) से 'प्रसाद'जी के नाटक अभिनीत नहीं हो सकते—वे एक आर्य-संस्कृति के प्रकांड पंडित की अपेक्षा अनुभव करते हैं। पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इधर दो-तीन नाटक लिखे हैं, जो रंगमंच पर भी खेले जा चुके हैं। वास्तव में मिश्रजी के नाटक अभिनय की सजीव भूमि के पल्लवित वृक्ष हैं। दूसरे वे हिन्दी के सामने नाटक के स्वरूप का नमूना भी प्रस्तुत करते हैं—इसी रूपरेखा पर भारतीय नाटक बड़ी सफलता से चल सकते हैं। इस कला में मिश्रजी संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटककार 'इब्सन' (Ibsen) से प्रभावित (inspired) मालूम होते हैं।

जिस प्रकार कथा-साहित्य में उपन्यास के ऊपर कहानी का एकाधिकार होता जा रहा है, उसी प्रकार नाटक की आत्मा भी 'एकांकी नाटक' के एकाकी दायरे में संकुचित

होने लगी है। कहानी और एकांकी नाटक की यह प्रधा-नता हमारे वर्तमान जीवन की अत्यधिक (Overcrowded) संघर्षमयी परिस्थितियों के फलस्वरूप है। आज का जीवन इतना संघर्ष-निगूढ़, इतना पदार्थमय (Materi-alistic) हो गया है कि मानव को विश्राम के इने-गिने क्षण निकालना भी दूभर हो जाता है।

आजकल विज्ञान का युग है—प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक कला में विज्ञान ने अपने स्वेच्छाचारपूर्ण परिवर्तन किये हैं। नाटक भी इससे वंचित नहीं रह सका; और सचमुच में देखा जाय तो इसने नाटक को तो पूरा निगल ही लिया है। चित्रपट की उत्पत्ति विज्ञान की ही प्रसूति है। आज चित्रपट सभ्यता के पृष्ठों पर एक मुख्य घटना है—अतः उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

हिन्दी-चित्रपट

हिन्दी-चित्रपट ही क्या समष्टि रूप से सभी भारतीय भाषाओं के चित्रपट की जन्म-कथा अभी प्रारंभ होती है। दस-पन्द्रह वर्षों का उनका जीवन और व्यापकता के क्षेत्र में इतनी तीव्र एवं प्रसारिणी प्रगति वास्तव में एक आश्चर्य

और चिन्तन का विषय हो गया है। विज्ञान द्वारा प्रचलित सभ्यता के अंगों में चित्रपट सबसे उल्लेखनीय एवं महत्त्व-पूर्ण अंग है। रेल, तार तथा अन्य वैज्ञानिक चमत्कारों के साथ चित्रपट भी भारतवर्ष में आया और अब जनता के जीवन की दैनिक वस्तु हो गया है।

बँगला एवं मराठी चित्रपटों में कलात्मक विकास का सुन्दर परिचय पाया जाता है; किन्तु बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी-चित्रपट कला तथा संख्या दोनों में काफ़ी आगे बढ़े प्रतीत होते हैं। यह वास्तव में हिन्दी के सुन्दर भविष्य का परिचायक है। हिन्दी-चित्रपट की यह प्रगति राष्ट्रीय जीवन में अनेक लाभप्रद काम कर सकती है। हिन्दी-प्रचार तथा हिन्दी-संस्कार पर्याप्त रूप से अहिन्दी-प्रान्तों में अपना अस्तित्व स्थापित कर सकते हैं।

प्रत्येक चित्रपट में——चाहे वह किसी भी भाषा का हो——कहानी, अभिनय, संगीत, भाषा और उद्देश्य मुख्य अंग होते हैं। वास्तव में कहानी, अभिनय, संगीत और भाषा ही किसी चित्रपट के सजीव अंग हैं—इनके साथ फ़ोटोग्राफ़ी, नाद-उल्लेख एवं श्रेणी-क्रम भी आ जाते हैं; किन्तु इन सब पर एक शासक है, जो उद्देश्य के रूप में, प्रत्येक चित्रपट में अपना एकाधिकार अथवा सर्वाधिकार प्रदर्शित

करता प्रतीत होता है। इस उद्देश्य के ही संकेत पर कहानी, अभिनय आदि नृत्य किया करते हैं।

हिन्दी-चित्रपट की कहानी अनेक प्रकार की होती है और वास्तव में नब्बे प्रतिशत कहानियाँ तो हिन्दी-कहानी-कला का उपहास करनेवाली ही होती हैं। इन कहानियों की घटनाएँ तथा कथोपकथन कभी-कभी तो इतने अस्वाभाविक तथा उपहासास्पद होते हैं कि किसी भी साधारण बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति को भी उनके देखने और सुनने से लज्जा आ सकती है। इसका कारण है चित्रपट के संचालकों और दिग्दर्शकों की अभिज्ञता और हिन्दी के प्रति उनकी उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति। हिन्दी-साहित्य क्या है—उसका भांडार कितने अमूल्य मोतियों से परिपूर्ण है—इसका कभी वे स्वप्न में भी भूलकर विचार नहीं कर पाये हैं। ये कहानी-लेखक एक तो कहानी-कला के मूल सिद्धांतों से अनभिज्ञ होते हैं और यदि कोई कुछ निपुण भी हो तो उनकी कहानी की आत्मा संचालकों की अज्ञान-बुद्धि पर बलिदान कर दी जाती है। प्रेमचन्दजी ने अजन्ता-फ़िल्म में कहानी प्रस्तुत की और सचमुच उनकी आत्मा रो पड़ी होगी जब 'सेवासदन'-जैसे उच्चकोटि के उपन्यास का चित्र-पट 'बाज़ारे-हुस्न' के नाम से जनता के सामने आया। सुदर्शनजी

की अनेक कहानियों का इसी प्रकार दुरुपयोग हुआ। इसमें दोष किसका है ? संचालक और दिग्दर्शक की मूर्खता तो उपहासपूर्ण है ही ; किन्तु जनता की मनोवृत्ति भी लज्जा-जनक है। जब तक जनता अपने अपमान का, अपनी भाषा के अपमान का, अपनी संस्कृति के अपमान का विचार न करेगी और खुले शब्दों में ऐसे चित्र-पटों का बहिष्कार न कर देगी, तब तक क्या ग़रज़ पड़ी है संचालकों को कि वे अपना दृष्टिकोण बदलें। यह जनता की मनोवृत्ति का दोष है। किन्तु जनता की मनोवृत्ति बनानेवाले जनता के कवि, जनता के लेखक और जनता के साहित्य और संस्कृति के कर्णधार ही तो होते हैं। अतः मूलरूप में कर्त्तव्य पुकारता है हिन्दी-भाषा के रचनात्मक क्षेत्र में कार्य करनेवालों को, हिन्दी के आचार्यों को तथा हिन्दी-हिन्दू और हिन्द के ज़रा भी सम्मान का विचार रखनेवालों को कि वे ऐसे फ़िल्मों की देखनेवाली जनता के विशृंखल एवं अशिष्ट मस्तिष्क के सम्मुख आदर्श कहानी, आदर्श सिद्धांत प्रस्तुत करें और उनकी इस अभद्र प्रवृत्ति को नागरिकता का स्वरूप दें। हिन्दी में एच० जी० वेल्स हैं, बर्नार्ड शॉ हैं, गॉल्सवर्दी हैं पर वे सब चेतनाशून्य हैं, निर्जीव हैं ; क्योंकि वे जनता

को अपने कला-केन्द्र के प्रकाश-बिन्दु पर आकृष्ट नहीं कर पाये।

कहानी के पश्चात् दूसरी समस्या आती है भाषा की। चित्रपट जनता के मनोरंजन को अपने सामने रखता है—और यही उसका मूल उद्देश्य है। अतः स्वभावतः ही भाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसको सभी श्रेणी के मनुष्य समझ सकें; किन्तु इस विषय में भी हिन्दी-चित्रपट दोषी हैं। भाषा में फ़ारसी के तत्सम शब्दों और संस्कृत के तत्सम शब्दों, दोनों का सामंजस्य रूप में ऐसा मिश्रण रहता है कि पूरे वाक्य को पूरी तरह से न तो उर्दू जाननेवाले ही समझ पाते हैं और न हिन्दी जाननेवाले ही। किन्तु इसमें भी कुछ तो जनता का दोष है, कुछ संवाद-लेखकों का और काफ़ी रूप से संचालकों का। दूसरे, अभिनेता और अभिनेत्रियों का संयुक्त शब्दों का उच्चारण इतना अशुद्ध होता है कि कानों पर भारी आघात-सा पड़ता है। ये अभिनेता और अभिनेत्रियाँ या तो पूर्णतया निरक्षर-से होते हैं या कुछ उर्दू जाननेवाले; किन्तु जनता को आकृष्ट करने का तत्त्व इनमें काफ़ी रहता है, इसीलिए संचालक इनको अपनी कम्पनियों में रखने को लालायित रहते हैं। इस चित्रपट के प्रारंभ से नाटकों का तो प्राणांत हो ही

चुका, अब संगीत का भी मरण निकट है। विशुद्ध भारतीय संगीत पर विदेशी (Orchestra) बंध लगाकर कला की विमुक्त आत्मा के स्वच्छंद विचरण को कारागृह-बद्ध कर दिया गया है। दूसरे, विशुद्ध राग-रागिनियों में अंग्रेज़ी के ध्वनि और नाद, (Tunes) फ़ारसी ग़ज़लों और क़ौवालियों के स्वर-पात मिश्रित करके भारतीय संस्कृति के आत्मगीत को कुचल दिया गया है। जनता इसको चाहती है, और धार्मिक एवं नैतिक सूत्रों की भाँति अपने जीवन के सुख-दुखमय क्षणों में गुनगुनाया करती है। किन्तु संगीत-कला का यह सर्वनाश होते देखकर भी हिन्दी-संस्कृत के हिमायती तथा संगीत-कला के उपासक प्रशांत हैं। पता नहीं, यह उदासीनता संगीत-कला को पतन की किस सीमा पर ले जाकर छोड़ेगी।

अभिनय हृदय की भावनाओं एवं मानसिक विचारों को साकार करने की क्रिया है। हिन्दी-चित्रपटों में अधिकांश अभिनेता और अभिनेत्रियाँ अशिक्षित एवं अनभिज्ञ हैं कि भावनाएँ क्या वस्तु हैं ? अत: सफल अभिनय की आशा करना तो एक स्वप्न ही है, एक विडंबना है।

इन दोषों की हिमालय-जैसी श्रेणियों के साथ-साथ कुछ गुण के शिखर भी यत्र-तत्र उत्थित हुए दीख पड़ते

हैं, और विशेषत: भविष्य के गर्भ में तो एक बड़े विकासमय आलोक की प्रोज्ज्वल राशि जगमगाती दृष्टिगत होती है। हिन्दी के रचनाकारों का सहयोग तथा जनता में परिष्कृत भावनाओं की सृष्टि भारतीय चित्रपट को, इसमें कोई संदेह नहीं है कि, एक प्रकाशमयी दिशा की ओर अग्रसर कर सकती है—आवश्यकता है प्रतिक्रिया की—प्रत्यावर्तन की तथा हिन्दीवालों के विचारशील प्रयत्नों की।

कहानी और उपन्यास

कविता मनुष्य के भावात्मक जीवन की अभिव्यक्ति है, भाव की ही प्रधानता और एकात्मकता कविता की मूल सम्पत्ति है। इसका यह मतलब नहीं कि कविता में भाव की सूक्ष्मता के सिवा चिन्तन एवं मनन होता ही नहीं। ये सभी होते हैं, लेकिन एक ख़ास सीमा तक। कहानी भी एक प्रकार से कविता ही है; और जहाँ तक उसकी रूपरेखा में भावना का कुछ भी अंश है, वहाँ तक तो उसे कविता कहना कोई आपत्तिजनक बात नहीं हो सकती। कहानी में हृदय की भावना की अपेक्षा मस्तिष्क की चिन्तना अधिक होती है—कविता की कल्पना की अपेक्षा कहानी में दैनिक जीवन की सत्यता ही अधिक सजीव दिखाई देती है। अतः दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों

में कोई विशेष अंतर नहीं—दोनों ही अपने-अपने रूप में, मानव-जीवन की परिपूर्णता में, सहायता देती हैं। भावना ही जीवन नहीं है, कल्पना ही अस्तित्व नहीं है; और उधर दूसरी ओर चिंतन ही जीवन नहीं है, कठोर सत्य ही सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण रूप में भावना तथा चिन्तन का संयोजन, कल्पना तथा सत्य का संश्लेषण—जीवन के सजीव मूल हैं और इन दो अलग-अलग संयोजित तत्त्वों का नाम ही मानव-जीवन है।

अभिव्यक्ति ही मानवपन है; और ख़ासकर भाषा के रथ पर चलती व्यंजना तो मनुष्य एवं पशु के अंतर की विभेद-रेखा है। बिना अभिव्यक्ति की शक्ति के मनुष्य पशु है, और बिना भावमूकता के पशु मनुष्य है—यही मनुष्य-पशु का एक स्वाभाविक भेद है। मतलब यह नहीं कि पशु अपने भावों को कभी व्यक्त नहीं करता, या अभिव्यक्ति की शक्ति उसमें मूलतः कुछ भी नहीं है; किन्तु कहने का मुख्य भाव यह है कि प्राणी अपनी शक्ति की समतौलता में सबकी शक्तियों को तौलता है—अपने स्वाभाविक गुणों की भित्ति पर अन्य प्राणियों के गुणों के होने तथा न होने का अनुमान लगा लेता है अथवा ऐसा ही कोई प्रकृत कथन (Verdict) 'पास' कर

देता है। क्योंकि अपने प्रति की अहम्मन्यता एवं अहंकार उसकी एक स्वाभाविक-सी आदत हो गई है।

हाँ, तो स्वभाव से ही मानव अपने को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने आसपास जो भी कुछ देखता है, उस पर जो कुछ भी उसका दिमाग़ काम करता है तथा उससे जो भी उसकी भावनाओं में प्रगति आती है; मनुष्य चाहता है कि वह सबका सब किसी से कहा जाय——सारा विचार, भावना तथा कल्पना से भरा घट किसी के सामने उँडेल दिया जाय। इसी को अभिव्यक्ति की संज्ञा दी गई है। कहानी ऐसी ही कितनी असंख्य अभिव्यक्तियों में से एक अभिव्यक्ति है——यों तो जो भी कुछ मनुष्य कहता है, वह सभी अभिव्यक्ति के नाम से पुकारा जा सकता है; किन्तु मनुष्य की किसी भी चीज़ को सीमाबद्ध करने की एक अच्छी एवं बुरी प्रवृत्ति हो गई है। अत: उसने सारी अभिव्यक्तियों को कहानी न मानकर एक ख़ास प्रकार की अभिव्यक्ति का ही कहानी नामकरण किया है।

हमारा भौतिक जीवन, और मोटे रूप से हमारा पार्थिव अस्तित्व, केवल घटनावलियों का ही एक क्रमबद्ध इतिहास है——जन्म से जीवन की राह प्रारंभ होती है और मृत्यु

के छोर पर जाकर रुक जाती है। जन्म-मृत्यु के बीच का यह एक लम्बा रास्ता ही हमारा जीवन है। प्राणी इस रास्ते में यात्रा करने के लिए इस पृथिवी पर आता है। वह चलता है और अपने पथ के दोनों ओर अनेक दृश्य देखता है——बीच में अनेक घटनाओं से गुज़रता है। ये घटनाएँ बिना किसी क्रम के, तारतम्य के, बेतरतीब आती हैं, और वास्तव में अपने अकेले रूप में कोई परिपूर्ण आशय नहीं देतीं, कोई ख़ास 'मीनिंग' नहीं ध्वनित करतीं, एक ख़ास निश्चित नतीजा नहीं निकालतीं। जब ये घटनाएँ इस प्रकार आबद्ध करके एवं चुनकर रक्खी जाती हैं कि उनसे एक परिणाम-विशेष निकले अथवा उनका सम्बद्ध क्रम किसी निश्चित सीमा पर पहुँचे तो अभिप्राय रूप में एक पूर्ण इकाई बन जाती है—एक पूरा चित्र-सा सामने आ जाता है——ऐसा चित्र, जिसमें पहली रेखा से लेकर अंतिम रेखा तक सारी रेखाएँ एक ही सम्पूर्ण भाव को दर्शावे, एक ही सम्प्रति विचार (Impression) दे। ऐसे चित्र को ही कहानी कहते हैं।

इस प्रकार यदि कहानी एक ही Idea (विचार) या एक ही भाव (Impression) की अभिव्यक्ति का नाम है, तो उपन्यास अनेक Idea और अनेक भावों की एक

सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। अर्थात् यों कहना चाहिए कि वह एक भाव-संग्रह की कहानी है, जिसमें कहानी की भाँति कोई निश्चित परिणाम होता है। जिस भाँति कहानी किसी ख़ास दिशा की ओर, किसी ख़ास प्राप्ति के लिए किसी भावना-विशेष को मूल में लेकर चलती है, उपन्यास भी उसी भाँति एक निश्चित दिशा, एक निश्चित प्राप्ति तथा एक निश्चित भावना को लेकर चलता है। दोनों में चलने की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं; और दोनों का पथ भी एक ही है—जीवन के ही पथ पर दोनों चलते हैं। स्पष्ट रूप से दोनों का साम्य या असाम्य, दोनों का सम्बन्ध या विच्छेद इसी भाँति है, जिस भाँति एक लहर और एक नदी का होता है। लहर में नदी है और नदी में लहर है। नदी सागर की ओर बहती है, लहर भी सागर की ओर बहती है—दोनों का एक पथ है, एक ध्येय है, एक गति है। लहर अपने में पूर्ण है, अपने में अपनी है; नदी भी अपने में पूर्ण है, अपने में अपनी है—दोनों अलग-अलग हैं, और दोनों एक हैं। यही हाल कहानी और उपन्यास का है। दोनों अपनी-अपनी विभिन्न सत्ता में पूर्ण हैं, अपनी-अपनी अवस्था में, गति में स्वच्छंद हैं। कहानी में यदि मानव-जीवन की एक

झलक है, एक ही दृष्टि-बिन्दु का 'स्नैप' (Snap) है; तो उपन्यास में मानव-जीवन की एक सम्पूर्ण तसवीर, एक सम्पूर्ण प्रकाश-रेखा—मानो कहानी जीवन के चन्द्रमा की एक किरण हो और उपन्यास जीवन-चन्द्र की सम्पूर्ण किरणों का एक किरण-जाल—एक किरण में चन्द्रमा है और सम्पूर्ण किरण-जाल में भी चन्द्रमा है—जीवन का चन्द्रमा दोनों में है। अतः हम देखते हैं कि कहानी और उपन्यास में केवल विस्तार का ही अन्तर नहीं, वरन् मूल सत्त्व का भी विशेष अंतर है। एक जीवन का पूर्ण चित्र है; दूसरी जीवन की केवल एक अवस्था की एकात्म तसवीर। किन्तु भूलकर भी दोनों का विहार-स्थल जीवन से परे नहीं है; जीवन की भूमि पर ही दोनों का विकास है तथा जीवन की भूमि पर ही दोनों का विनाश भी। दोनों जीवन की ही वस्तुएँ हैं। जीवन से अलग की तटस्थ दर्शिकाएँ (Onlookers) नहीं।

आजकल कहानियों की बाढ़-सी आ गई है—किसी भी प्रकाशक की दूकान में, किसी भी पुस्तकालय की अलमारियों में, ह्वीलर के किसी भी 'स्टाल' में जहाँ देखें वहीं कहानी और उपन्यास की भरमार है। सचमुच में कहानी और उपन्यास ही आजकल की दुनिया का प्रधान

साहित्यांग हो गया है ; और साहित्यों की बात जाने दीजिए, हमारे हिन्दी-साहित्य में ही देखिए, तो स्पष्ट है कि कहानी और उपन्यास की जितनी अधिकता है, उतनी किसी भी अन्य साहित्यांग की नहीं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का युग गद्यकाल कहलाता है ; किन्तु यदि इसे हम 'कथाकाल' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कथा-गद्य के अतिरिक्त और है ही क्या ? हिन्दी की किसी भी पत्रिका के पृष्ठ उलटिए, जितनी ज़्यादा तादाद में कहानियाँ मिलेंगी, उतनी ज़्यादा तादाद में गद्य-व्यंजना की अन्य सामग्री नहीं। इसका रहस्य क्या है ! अचानक यह असीम बाढ़ कैसी ? और क्यों इस युग में ही यह बाढ़ इतनी व्यापक है, अन्य युगों में क्यों नहीं थी ? आदि प्रश्न स्वभावत: हमारे सामने आते हैं। और, इनको टालकर जाना भी ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बिना इन प्रश्नों पर विचार किये तथा इनका उत्तर सोचे हिन्दी के कहानी-साहित्य की आलोचना अधूरी ही रह जायगी। इन प्रश्नों के अन्दर ही तो कहानी का रहस्य छिपा है ; इनको इसी प्रकार छोड़कर निकल जाना आत्मा के प्रति तो अन्याय है ही, किन्तु आलोचना के सांगस्वरूप पर भी कुठाराघात करना है।

हाँ, तो टिड्डियों के दल की भाँति हमारे समय पर और परोक्ष रूप से साहित्य पर इन छोटी-मोटी कथाओं का आक्रमण क्यों ? प्रश्न पर विचार करने से सबसे पहले हमारे सामने मानव-स्वभाव का मूल तत्त्व आता है। जीवन के संघर्ष से ऊबकर मनुष्य की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा होती है कि मनोरंजन के शांत-स्पर्श से अपने श्रांत-क्लांत शरीर को कुछ विश्राम दे—दैनिक जीवन की उलझनों को सुलझाते-सुलझाते वह घबरा-सा जाता है, एक आक्रांत-भार से बोझिल हो जाता है। ऐसे समय में वह किसी ऐसी स्थिति में डूबना चाहता है, जिसमें वह अपनी सम्पूर्ण श्रम-श्रांति को कम-से-कम क्षण भर के लिए भूल जाय, क्षण भर के लिए वह इस कठोर यथार्थ की दुनिया से उठकर ऐसी दुनिया में पहुँच जाय जहाँ चाहे उस दुनिया की पीड़ा हो—वेदना हो, पर कम-से-कम इस दृष्ट जगत् की समस्याएँ एवं अपने से सम्बन्ध रखनेवाली वही बातें तो न हों। ऐसी स्थिति प्रदान करनेवाला सबसे सरल साधन है कहानी या उपन्यास। कहानी और उपन्यास दोनों ही इस वस्तु-जगत् की सरल-से-सरल एवं सुलभ-से-सुलभ व्यंजनाएँ हैं और मनोरंजन के तत्त्व की तो जितनी अधिकता इनमें

है, उतनी साहित्य के किसी और अंग में नहीं । अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या मनोरंजन ही साहित्य का मुख्य ध्येय है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि नहीं; और वास्तव में कहानी का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन नहीं । मनोरंजन से मेरा मतलब संतोष की ऐसी साँस से है, जो जीवन के संघर्षावृत सत्य को आवरण से हटाकर हमारे नवीन उत्साह एवं नवीन स्फूर्ति के लिए हमारे सामने लावे—हमारे जीवन के दर्शन के अमृत-घट को उँडेलकर क्लांत शरीर की नस-नस में सींच दे । यही मनोरंजन 'साहित्य का मनोरंजन' है—ताश के खेल का या ब्रिज की बाज़ी का उथला (Trite satisfaction) या खोखला संतोष नहीं । मेरे विचार में यह खोखला मनोरंजन कहानी का उद्देश्य नहीं, वरन् मैं कामना करता हूँ कि कहानी अथवा उपन्यास में वस्तुतः मनोरंजन की वह अनुभूति रहे, जिसकी रग-रग में जीवन का दर्शन अबाध गति से बहता हो ; जिसकी लहर-लहर में सत्य की वह भावना हो, जो हमें प्रकाश के एक पुनीत प्रवेग में डुबो दे । अस्तु । इसी मनोरंजक तत्त्व की सरलता एवं अधिकता के कारण कहानी और उपन्यास हमारे आस-पास इतनी अधिक संख्या में हैं । आधुनिक युग विज्ञान

का युग है। विज्ञान के विकास ने हमारे जीवन में यथार्थ का वह ठोस तत्त्व मिश्रित कर दिया है, जो आवश्यकता से अधिक हमारे दैनिक स्वातंत्र्य में कभी-कभी तो बाधा डालने लगता है। यथार्थ के इस रात-दिन के संसर्ग से हमारा जीवन भी भावना की सूक्ष्म एवं कोमल भूमि से हटकर तर्कना (Reason) की स्थूल भूमि पर आ गया है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हमारा जीवन Poetic (पोयेटिक) की अपेक्षा अधिक Prosaic (प्रोज़ेक) हो गया है। अतः यह स्वाभाविक है कि भावनामूलक साहित्य की अपेक्षा इस युग में तर्कनामूलक साहित्य को ही प्रधानता मिले। वर्तमान युग में कहानी और उपन्यास के साहित्य की बहुलता का एक प्रधान कारण यह भी है; किन्तु सबसे बड़ा कारण है कहानी एवं उपन्यास की आकर्षक कला (Attractive technique)। कहानी एवं उपन्यास की 'टेक्नीक' इतनी अधिक परिपूर्ण एवं सफल व्यंजक हो गई है कि अन्य साहित्यांग वहाँ तक नहीं पहुँच सके।

वर्तमान काल में कहानियों और उपन्यासों की इस अधिकता से यह भ्रम न होना चाहिए कि कहानी और उपन्यास इसी काल की चीज़ें हैं अथवा इसी काल में

इनका जन्म हुआ है या केवल हमारे साहित्य की या विशद रूप से हमारे ही देश की ये सम्पत्ति हैं। पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक सर्वदा कहानी की धारा अक्षुण्ण रही है। इसकी उत्पत्ति बताना तो सृष्टि की, या प्रकृति और पुरुष की, उत्पत्ति बताना है। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में ही कहानी का प्राण, उसकी आत्मा है। सृष्टि ही एक साकार-सचित्र कहानी है और सृष्टि का उत्पादक भी कुछ और नहीं, सिर्फ़ एक रहस्यमयी कहानी है।

अनेक लोगों की धारणा है, और अपनी धारणा में वे इतने हठी एवं दृढ़ भी हैं कि कभी-कभी तो अपने कान और आँखें भी बन्द कर लेते हैं। उनकी धारणा यह है कि हिन्दी-साहित्य में कहानी या उपन्यास का पूर्णतया अभाव है—कहानी और उपन्यास हिन्दी-साहित्य या भारतीय साहित्य में थे ही नहीं। वास्तव में इनका विरोध करना एक व्यर्थ की बात एवं अपने अमूल्य समय की हानि ही मालूम पड़ती है। चारों वेद, सम्पूर्ण बौद्ध-ग्रंथ, जैन-ग्रंथ, पुराण, रामायण, महाभारत आदि सभी कहानी और उपन्यास के अपने-अपने रूप हैं। हाँ, शायद इन महानुभावों को उनमें योरपीय ढंग की शैली एवं मैटर (Matter) नहीं मिलता है; इसीलिए वे असंतुष्ट

हैं। किन्तु भारत तो योरप नहीं है——कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि वे लोग शायद यह भी कह दें कि भारतवासी मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि उनका रंग योरपीय मनुष्यों की तरह का नहीं है।

कहानी और उपन्यास की वर्तमान रूपरेखा खड़ी बोली के गद्य की देन है ; और पूरे संतोष के साथ पहले के सब प्रयत्नकारों को छोड़कर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि हिन्दी में आधुनिक कथा का प्रादुर्भाव श्रीदेवकीनंदन खत्री के उपन्यास-लेखन से ही हुआ है। उनका 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास आज भी सैकड़ों पाठकों को उसी प्रकार आत्म-विभोर कर देता है। प्रचार की दृष्टि से तो गोस्वामीजी की रामायण के पश्चात् उसी का स्थान आता है। उनके सभी उपन्यास जासूसी, ऐयारी की सामग्री से परिपूर्ण हैं और इसीलिए आजकल उनके ऊपर लोग 'असम्भवता' का दोषारोपण भी करते हैं ; किन्तु यह उनकी भ्रांति है। हम उनके आक्षेप का उत्तर स्व० खत्रीजी के ही शब्दों में देते हैं——"कौन-सी बात हो सकती है और कौन नहीं हो सकती, इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देशकाल-पात्र से सम्बन्ध रखता है।" दूसरे उनके उपन्यास-लेखन का उद्देश भी

कुछ और ही था। उस समय हिन्दी-पाठक कितने थे? और जो थे भी, तो उनमें से कितने जानते थे कि कलात्मक उपन्यास किस चिड़िया का नाम है? उस समय तो इस बात की आवश्यकता थी कि हिन्दीवालों की पढ़ने की ओर अभिरुचि बढ़ावे और हिन्दी की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करे। यह आवश्यकता रोचकता के तत्त्व के समावेश से ही हो सकती है—खत्रीजी ने इसी का सम्मिश्रण अपने उपन्यासों में किया। कुतूहल, मनोरंजन तथा बहलाव के दृष्टिकोण से तो वे बड़ी सफलता के साथ स्काट (Scott) एवं ड्यूमा (Dumas) के समक्ष प्रतीत होते हैं। और 'ड्यूमा' तथा 'स्काट' को कितने सम्मान के साथ हमारे पाठक एवं आलोचक पढ़ते हैं! किन्तु अपने घर के स्काट पर अपने भ्राता ड्यूमा पर कैसी उपेक्षा से हँस देते हैं! क्योंकि वह भारतीय है ना!! हाँ, तो 'चन्द्रकान्ता' की अपील इतनी व्यापक हुई कि हिन्दू तो हिन्दू अपितु अनेक मुसलमानों ने भी सिर्फ़ चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। जनता की जागृति के साथ-साथ एक और महत्त्वपूर्ण कार्य श्रीखत्रीजी की साहित्य-उपासना से हुआ—वह है उपन्यास एवं कहानी की भाषा का निश्चय—जिसके पथ पर ही आजकल हमारे

उपन्यासकार एवं कहानी-लेखक चल रहे हैं और इसी राज-मार्ग का अवलंबन प्रेमचन्दजी ने भी किया है। भाषा-निर्णायक के स्वरूप में स्व० खत्रीजी का महत्त्व और भी बढ़ जाता है, जब कि हम महात्मा गांधी तक के मुँह से सुनते हैं—"चन्द्रकान्ता की भाषा बड़ी आसानी से आदर्श राष्ट्र-भाषा हो सकती है।"

खत्रीजी की इस जागृति एवं मनोरंजन के पश्चात् मानो जैसे कथा-साहित्य का द्वार खुल-सा गया। श्री-माधवप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार घोष तथा श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों ने अनेक मनोरंजक, शिक्षाप्रद एवं कुतूहलवर्धक कहानियाँ और उपन्यास लिखे। ये सब कृतियाँ, जो कि इन लेखकों की लेखनी से प्रसूत हुईं, वर्तमान चरित्र-चित्रण तथा जीवन-दर्शन के कलात्मक तत्त्वों से मानो परिचित ही नहीं थीं, वरन् उपदेश तथा शुभ-अशुभ कर्मों का परिणाम-प्रदर्शन करना ही इनका मुख्य उद्देश हुआ करता था। हाँ, श्रीगिरिजाकुमार घोष की कुछ कहानियों में कला का अच्छा आभास मिलता है। और तो अधिकांश कहानियाँ एवं उपन्यास केवल घटनाओं के ही क्रमहीन और अर्थहीन विस्तृत जाल हुआ करते थे। हिन्दी-साहित्य में आधुनिक प्रणाली की कहानियों

एवं उपन्यासों के बीज श्रीविश्वम्भरनाथ कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कथा-साधना में प्राप्त होते हैं। स्व० जयशंकर-प्रसादजी ने भी इसी काल में अपनी कुछ कहानियाँ प्रकाशित करवाई थीं। कौशिकजी की कहानियों का संग्रह 'चित्रशाला' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें उनकी सभी प्रकार की कहानियाँ संकलित हैं—किंतु मुझे 'ताई' और 'स्मृति'-नामक कहानियाँ विशेष मनोरंजक एवं कलात्मक लगीं। यों तो कौशिकजी की सभी कहानियाँ किसी ध्येय-विशेष को लक्ष्य करके चलती हैं; किन्तु इस उद्देश्य-निर्माण के प्रयत्न में स्वभावत: कला की प्रकाश-रेखा भी चमक उठती है। अपनी साधना में वे घटनाएँ एवं पात्र लेने में तो वर्तमान यथार्थवादी संप्रदाय (Realistic school) की भाँति ही साधारण-से-साधारण वातावरण की ही खोज करते हैं; किन्तु चित्रण में वे इस 'रियालिस्टिक मेटिरियल' से पात्रों के व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा कि हमको यथार्थवादी सम्प्रदाय के लेखकों में मिलता है।

श्रीचतुरसेन शास्त्रीजी की कहानियाँ परिमाण में क़रीब-क़रीब सभी लेखकों से बाज़ी मार ले जाती हैं,

किन्तु कलात्मकता की दृष्टि से उनमें एक परिमित सफलता के ही दर्शन होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनकी अनेक कहानियाँ 'लिखने के लिए' ही लिखी गई हों। किन्तु जैसा ओजस्वी एवं भाव-व्यंजक गद्य शास्त्रीजी लिख पाये हैं वैसा बहुत कम लेखक लिख सके हैं। अपनी कहानियों की अपेक्षा उन्होंने अपने उपन्यासों में ही अपनी प्रतिभा का विशेष आभास दिया है। उनकी "अमर अभिलाषा" और "हृदय की प्यास" हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की दो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। दोनों में शास्त्रीजी के Realistic view (यथार्थ-वादी दृष्टिकोण) का पात्रों के हृदय-द्वंद्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कौशिकजी ने भी 'माँ'-नामक एक बड़ा-सा उपन्यास लिखा है; किन्तु शास्त्रीजी का-सा चरित्र-चित्रण उनकी तूलिका से नहीं अंकित हो सका। हाँ, कथोपकथन में कौशिकजी अवश्य शास्त्रीजी से विशेष दक्ष हैं।

पं० ज्वालादत्त शर्मा की कहानियाँ सभी समाज की रूढ़ियों को लेकर चली हैं और आर्यसमाजी दृष्टिकोण से उन रूढ़ियों एवं परम्परागत प्रथाओं का उपहास एवं खंडन ही उनकी कहानियों का मुख्य उद्देश रहता है। वे

कलाकार की निर्लिप्तता से विमुख होकर एक समाज-सुधारक का ही रूप धारण कर लेते हैं। गुलेरीजी का जीवन-काल थोड़ा ही रहा और वे शायद तीन-चार कहानियाँ ही लिख सके ; किन्तु उनकी एक मणि उनके कलाकार-स्वरूप को हिन्दी-साहित्य में चिरकाल तक ज्योतित रक्खेगी—वह मणि है 'उसने कहा था।' कहानी-कला के सभी तत्त्वों का इसमें सुन्दर निरूपण है।

'प्रसाद' जी हमारे साहित्य के एक महान् कलाकार थे। किन्तु और सब-कुछ होने से प्रथम वे एक कवि हैं। उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में उनका कवि-रूप ही विशेष व्यापक प्रतीत होता है। उनके दो उपन्यास हमारे साहित्य-मंदिर में हैं। 'कंकाल' उनकी शुरू की रचना है और 'तितली' उस समय की, जब उनकी लेखनी हिन्दी की प्रौढ़ लेखनी हो गई थी। चरित्र-चित्रण और आंतरिक संघर्ष उनकी कला के स्तंभ नहीं हैं। उनकी काव्यमय लेखनी वातावरण का ही संश्लिष्ट चित्रण कर पाई है—व्यक्ति का नहीं। दूसरे, भाषा भी उपन्यास के उपयुक्त भाषा नहीं कही जा सकती। भाषा की काव्यमयता का दोष उनकी कहानियों की आभा को भी आच्छन्न कर गया है। प्रसादजी की कहानियाँ देश, काल और पात्र सभी दृष्टि

से अतीत के गर्भ की चीज़ें हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे वर्तमान से आँखें मूँदकर रात-दिन अतीत के धुँधले से तहख़ाने में ही रहते थे। हाँ, चाहे जो हो ; किन्तु प्रसादजी की कहानियों का एक अपना अलग ही स्कूल है। विनोदशंकरजी व्यास और राधिकारमणसिंहजी प्रसाद-स्कूल के ही अनुगामी कहानी-लेखक हैं। भावना की दृष्टि से प्रसादजी करुणा के कलाकार हैं। उनकी सभी प्रकार की कृतियों में करुणा के तत्त्व की जो सजीव-साकारता मिलती है, वह उनकी अपनी चीज़ है और कोई भी लेखक इस क्षेत्र में प्रसादजी के समीप नहीं पहुँच पाया है।

कथा-साहित्य की शैली एवं आत्मा की इसी अनिश्चित धूमिलता में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जिससे हिन्दी-गद्य का आँगन जगमगा उठा। यह घटना थी प्रेमचन्द्रजी का हिन्दी-साहित्य में अवतरण। प्रेमचन्दजी का वास्तविक नाम धनपतराय था। पहले वे उर्दू में ही कहानियाँ लिखा करते थे। उर्दू में उनका उपनाम 'नवाब राय' था। किन्तु हिन्दी के सौभाग्य से उनकी लेखनी हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुई—कथा-साहित्य की सुरसरि बह चली। इस अवतरण-काल से लेकर अपने असामयिक मरण-काल तक प्रेमचन्दजी

ने कुल मिलाकर चार-सौ के लगभग कहानियाँ लिखीं और एक दर्जन से ज़्यादा उपन्यासों की रचना की। उनकी कहानियों और उपन्यासों का वातावरण अधिकांशतः भारत के ग्रामों में है। वे भारत की उस जनता की भावना एवं व्यथा के चित्रकार हैं, जो अपनी हृदय-ज्वाला को, लाचार ग़रीबी को और निःसहाय वेदना को कभी कह नहीं सके हैं, जिनके आलोड़ित भाव आजीवन होठों पर ही आकर मिट गये हैं, जिनकी निर्जीव निःश्वासें चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकली हैं और जिनकी बेबस वेदना निराश आँखों के कोने में ही सूख गई हैं। प्रेमचन्दजी की लेखनी भारत के इसी मौन-मूक समाज की भावनाओं को लेकर कथा की लड़ियों में बिखर पड़ी है।

प्रेमचन्दजी की साहित्य-साधना के काल में ही उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगनागण में प्रदीप्त नक्षत्रों की भाँति बिखर पड़ा। सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, 'अज्ञेय', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और 'पहाड़ी' इनमें प्रमुख हैं। जैनेन्द्रजी का आज हिन्दी के कथा-साहित्य में एक प्रमुख स्थान है। उनकी कहानियों में हृदय-द्वंद्व की जो सूक्ष्मता तथा suspense की जो प्रगल्भता मिलती है, वह उनकी अपनी विशेषता है—

अंतस्तल के प्रशांत एवं तरंगाकुल प्रदेश का ऐसा परिपूर्ण चित्रण हिन्दी में बहुत कम मिलता है। किन्तु उनमें एक बड़ी खटकनेवाली कमी है। वह है उनके दर्शन की सघनता और जटिलता—उसमें भावुक-कल्पना का अभाव उनकी कहानियों एवं उपन्यासों को कला के भावात्मक क्षेत्र से शुष्क एवं तटस्थ कर देता है। अपनी अनुभूति और भावना में वे पाश्चात्य कथा-साहित्य के ऋणी हैं, और 'कला कला के लिए'—सिद्धांत के सबसे प्रथम प्रचारकर्त्ता और पृष्ठपोषक जैनेंद्रजी ही हैं। जैनेंद्रजी के उपन्यास प्रेमचन्दजी के आदर्शवादी उपन्यासों की प्रतिकूल यथार्थवादी प्रतिक्रियाएँ हैं। 'सुनीता', 'परख' उनके दो उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं——'सुनीता' में "too much Post-war reaction" (अत्यधिक गत-महायुद्ध की प्रतिक्रिया) के सजीव तत्त्व हैं। कभी-कभी जैनेन्द्रजी का अनावश्यक विस्तार-प्रेम मन को उबानेवाला हो जाता है। 'परख' की भाषा बड़ी सरल एवं सजीव है, और यदि उसे उपन्यास की भाषा का आदर्श कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती; किन्तु उनकी शैली आत्म-चेतना से बोझिल-सी है। श्रीभगवती बाबू जैनेंद्रजी से पूर्व के लेखक हैं। उनका 'चित्रलेखा' उपन्यास हिन्दी की एक

बहुमूल्य सम्पत्ति है। वह किसी भी श्रेष्ठ पाश्चात्य उपन्यास के समक्ष रक्खा जा सकता है। यद्यपि उसकी 'बैक ग्राउंड' (background) पाश्चात्य कथा की अनुभूति का परिणाम है; किन्तु भारतीय संस्कृति की आत्मा को उसमें प्रतिष्ठित करके उन्होंने दिखला दिया है कि मौलिकता की परिभाषा क्या होती है? इधर अभी उनका 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास छपा है, जो यथार्थवाद का एक प्रमुख organ (वाहक) है। वर्माजी ने इसमें जीवन की सहजशील बाह्य प्रवृत्तियों का ही चित्रण किया है। उपन्यासों के सिवा वे कहानियाँ भी लिखा करते हैं। 'इंस्टालमेंट' उनकी नवीन कहानियों का संग्रह है। वर्माजी की कहानियों में जीवन की विविधता ही विशेष मिलती है, गंभीरता नहीं। विचारों की बाढ़ संयमन से होड़ लेती है।

नवयुवक कहानी-लेखकों में अज्ञेयजी को विशेष सफलता मिली है। यदि उनको हम वर्तमान कहानी-लेखकों में सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहें, तो कोई अनुचित नहीं होगा। जीवन के संघर्ष की अपेक्षा हृदय का संघर्ष ही उनकी कहानी का मूल विषय है। उनकी काव्यात्मक भावुकता अंतर की सूक्ष्म तरंग-भंगी को और भी साकार कर देती है।

नवयुवक 'पहाड़ी' जी ने जितनी शीघ्रता से कहानी-साहित्य में अपना नाम जमा लिया, उसे देखकर आश्चर्य होता है। उनकी कहानियों में Suspense-element की जो आभा रहती है, वह हिन्दी में और कहीं नहीं दिखाई देती ; किन्तु 'पहाड़ी' जी की भाषा कभी-कभी अस्वाभाविक रूप से प्रांतीय हो जाती है।

फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा सुरुचिपूर्ण स्वाभाविकता एवं वास्तविकता में अपने ढंग के अनोखे हैं। उनके पात्र केवल कल्पना के पाले पुतले न होकर हाड़-मांस-युक्त प्राणी हैं। वे आदर्शवाद की ओट में सहृदयता के संबल से कभी भी जीवन के जटिल संघर्ष से दूर नहीं भागते। उनके उपन्यासों को पढ़कर मालूम होता है कि उन्होंने जीवन के केवल प्रकाशमय पहलू का ही अनुभव अथवा चित्रण नहीं किया, वरन् जीवन-जाल के निदारुण अंधकार में पैठकर भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश विकीर्ण किया है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में हम जीवन का राग-विरागमय सर्वांगीण चित्रण पाते हैं। वे जीवन के उल्लास से उदासीन नहीं, विषाद से विचलित नहीं, दोनों के सुख-सामञ्जस्य के अधिनायक हैं।

"यथार्थवाद और आदर्शवाद, दोनों का क्षेत्र सामाजिक होते हुए भी दोनों की निवासभूमि अलग-अलग है। आदर्शवाद यदि विवेक-मूलक होकर अपने अभीष्ट का प्रतिपादन करता है, तो यथार्थवाद भाव-मूलक होकर। आदर्शवाद यदि व्यक्तियों के समूह-द्वारा अग्रसर होता है, तो यथार्थवाद व्यक्ति विशेष के मनोभावों द्वारा; और व्यक्ति विशेष की हार्दिक समस्या ही सम्पूर्ण सामाजिक समस्या की इकाई है, यथा सिन्धु के लिए बिन्दु"। उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों का, अनुभूति की सचाई के साथ, रासायनिक सम्मिश्रण जोशीजी के उपन्यासों की अनुपम विशेषता है। उन्होंने बड़ी सुंदरता और सतर्कता से अप्रिय तथा प्रिय सत्य दोनों की आत्मानुभूति अभिव्यक्ति की है, वे जीवन के एक-एक क्षण के कलाकार हैं। उनका उपन्यास-साहित्य विश्व-उपन्यास-साहित्य के सामने भी सम्माननीय होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। जोशीजी-ऐसे कलाकार संसार में सदैव देर से समझे गये हैं। अस्तु, हमें उन्हें हिन्दी में इस रूप में पाकर आश्चर्य नहीं। भारत यदि कभी भाग्य से अपने जीवन और साहित्य में सावधान हो सका, तो जीवन के बीच सुघरता से साहित्य की स्थापना करनेवाले साहित्यिकों का सम्मान

भी कर सकेगा ; सम्भवतः वह दिन शीघ्र आनेवाला है।

श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने भी अनेक कहानियाँ लिखी हैं ; और वे हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में एक बड़े अरसे से लिखते चले आ रहे हैं। जैनेंद्रजी की भाँति उनकी कहानियाँ भी पाश्चात्य-अध्ययन से अनुभूत हुई प्रतीत होती हैं। उनमें व्यक्तित्व-विकास की एक ख़ास अपनी विशेषता है।

इन नवयुवकों के ही बीच दो हिन्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखक एवं उपन्यास-प्रणेता बहुत पूर्व से हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हैं—पहले हैं श्रीसुदर्शनजी और दूसरे श्रीइलाचन्द्र जोशी। सुदर्शनजी हिन्दी के दूसरे प्रेमचन्द्रजी हैं। उनकी कहानियाँ अनुभूति एवं भावना में बिलकुल प्रेमचन्द्जी की ही भाँति हैं। किन्तु उनमें एक प्रवृत्ति-विशेष कुछ खटकनेवाली लगती है—वह है उनकी कुछ-कुछ उपदेश देते हुए चलने की प्रणाली। इस उपदेश-पद्धति से कला का स्वरूप गौण हो जाता है। किन्तु उनकी-सी भाव-व्यंजक शैली हिन्दी की अन्यतम चीज़ है—ऐसी अभिव्यक्ति हिन्दी में अभी तक तो नहीं के बराबर है। श्रीजोशीजी की कहानियाँ अपनी एक विशेष धारा लेकर चलती हैं। उनकी

कहानियों में मनोभावों का सूक्ष्मतम तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण हिन्दी में अपनी एक अलग ही विशेषता रखता है—और यदि सच पूछा जाय तो जीवन एवं अंतस्तल के भाव-प्रतिभावों का तुमुल संघर्ष हिन्दी के कहानी-साहित्य में जोशीजी की देन है। जोशीजी का यह प्रयत्न अभिनंदनीय है। बहुत पहले विश्वमित्र तथा माधुरी में जोशीजी के धारावाहिक उपन्यास भी निकले थे—जिनमें सफल उपन्यास के सभी तत्त्व विद्यमान थे ; किन्तु उन पर अधिक विचार उनके प्रकाशन के बाद ही हो सकता है।

इन कलाकारों के अतिरिक्त हिन्दी में अन्य विशिष्ट कथा-कलाकार काफ़ी बड़ी तादाद में हैं। सर्वश्री 'उग्र', वाचस्पति पाठक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'निराला', ऋषभचरण जैन, 'अश्क', मोहनलाल नेहरू, 'भारतीय', सद्गुरुशरण अवस्थी, मोहनलाल महतो, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा आदि इनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'उग्र'जी हिन्दी-साहित्य में एक उल्कापात की भाँति आकर लोप-जैसे हो गये हैं। Realism का जैसा सचित्र स्वरूप उग्रजी की कृतियों में मिलता है, वह किसी भी पाश्चात्य यथार्थवादी (Naturalistic) कथाकार से

कम नहीं । 'निराला'जी ने कहानियों के अतिरिक्त उपन्यास भी लिखे हैं । उनकी 'अप्सरा' हिन्दी की एक श्रेष्ठ कथा-कृति है । वातावरण का अपनी विशेषता से चित्रण 'निराला'जी की अपनी विशेषता है ।

एक बड़े हर्ष की बात है कि हमारे महिला-समाज ने भी कथा-साहित्य में एक बड़ी क्षति की पूर्ति की है । इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में महिलाओं की काफ़ी ऐसी तादाद हो गई है, जिनकी लेखनी से हिन्दी के कथा-साहित्य की काफ़ी पूर्ति हुई है । श्रीमती शिवरानीदेवी ने अपने पति (प्रेमचन्दजी) की प्रेरणा से हिन्दी में काफ़ी अच्छी कहानियाँ लिखीं । सुभद्राकुमारीजी चौहान ने इसी काल में स्त्रियों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन करनेवाली अनेक कहानियाँ लिखीं । 'उन्मादिनी' नाम का उनका कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है । श्रीमती तेजरानी पाठक, श्रीमती उषादेवी मित्रा, कमलादेवी चौधरी, होमवतीजी एवं सत्यवती मलिक आदि इस युग की प्रधान कहानी-लेखिकाएँ हैं । इनमें श्रीमती कमलादेवी चौधरी को स्त्री-लेखिकाओं में सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखिका कहा जा सकता है । 'उन्माद' उनकी कहानियों का एक सुरुचिपूर्ण संग्रह है । भावों की विरोधी दिशाओं के चित्रण

में कमलादेवीजी की सफलता उनके कलाकार को बहुत ऊँचा उठा देती है। उषादेवीजी दूसरी प्रसिद्ध कहानी-लेखिका हैं। हाल ही में उनका 'पिया' नामक उपन्यास भी छपा है। उनकी काव्यमय भाषा एक स्त्री-सुलभ कोमलता का समावेश उनकी कृतियों में कर देती है।

इन कहानी-लेखकों एवं लेखिकाओं के अतिरिक्त हिन्दी में अनेक उदीयमान एवं उत्साही लेखक-लेखिकाएँ हैं—जिनसे हिन्दी को बड़ी आशा है।

आज का युग हमारे साहित्य का स्वर्णयुग है। साहित्य के क़रीब-क़रीब सभी अंगों में उन्नति एवं विकास की आभा बड़ी शीघ्रता से व्याप्त होती जा रही है; किन्तु हमारा कथा-साहित्य जितनी द्रुत गति से अपने पथ पर आरूढ़ है, उतना ही हमारे भावी प्रकाश का स्तंभ भी समीप आता जा रहा है। हिन्दी की अनेक कहानियाँ एवं उपन्यास संसार के किसी भी श्रेष्ठ कथा-साहित्य की सम्माननीय श्रेणी में स्थान पा सकते हैं।

भविष्य के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता; किन्तु मनुष्य का मन अनुमान का बड़ा हठीला आदी है—भविष्य के बारे में वह कुछ-न कुछ सोचा अवश्य करता है। हमारे वर्तमान की गति से हमें हमारे भविष्य के प्रति

कोई असंतोष नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर उन्नति एवं विकास के ही आसार नज़र आते हैं। हाँ, एक बात। ऐसा मालूम होता है, और वर्तमान संसार की over-crowded समस्याएँ इस अनुमान को पुष्ट भी करती हैं कि धीरे-धीरे उपन्यासों की गति प्रबंध-काव्यों की-सी बिरली (frequent) हो जायगी—और कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सुदूर भविष्य में उनकी नस्ल भी लोप हो जाय। इस chaotic विश्व में आज उपन्यास पढ़ने का लोगों के पास समय भी तो नहीं रहा—इसीलिए कहानी की ओर आकर्षण बढ़ता जा रहा है। पर किसे ज्ञात है क्या होगा; और चाहे कुछ भी हो हमें आशा है कि हम हिन्दीवाले कम-से-कम इस क्षेत्र में तो किसी से पीछे न रहेंगे—भविष्य और समय इसको चरितार्थ कर देगा।

उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द

It feels like a real fight--as if there were something really in the universe which we with all our individualities and faithfulnesses are needed to redeem, and first of all to redeem our own souls from atheisms & fears.

William James

[यह एक वास्तविक संघर्ष प्रतीत होता है—जैसे कि सचमुच इस विश्व में कुछ ऐसी चीज़ है, जिसका हमें अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और हार्दिकता से परिहार करना आवश्यक है ; और सबसे पहले हमें अपनी ही आत्माओं का भय और नास्तिवाद से परिहार करना है ।]

"The will to Believe" (विश्वास की इच्छा)

नाम्नी पुस्तक की इन ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियों के पढ़ते ही मेरी आँखों के सामने प्रेमचन्द का चित्र खिंच गया। मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, जैसे प्रेमचन्द की वाणी ही William James की लेखनी में बोल रही हो।

'सेवा-सदन' से लेकर 'गोदान' तक प्रेमचन्द के आत्म-गीत का यही लय-बिन्दु (Refrain) है।

सभ्यता, संस्कृति और साहित्य परस्पर एक वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, जो विविध आकार और विविध दिशाओं में फैली हुई होती हैं, किन्तु उनकी उत्पत्ति, विकास और जीवन की कारणभूत इकाई है वृक्ष और यह वृक्ष है जीवन। जीवन-वृंत में अंकुर फूटते हैं, उसी में इन शाखाओं की उत्पत्ति है, मातृत्व के वक्ष की भाँति जीवन-वृंत से रस की धार उद्भूत होती है, उसी से इन शाखाओं के अंग विकसित होते हैं और जीवन अपने अस्तित्व को बनाये हुए है, वह स्थित है, स्थिर है, इसी से उन शाखाओं का जीवन है, अस्तित्व है। अतः साहित्य-निर्माता का, संस्कृति के कर्णधार का और सभ्यता के शिल्पी का सबसे पहला और आवश्यक अन्वेषणीय तत्त्व है जीवन। जीवन की ग्रंथि-ग्रंथि में सिंचित सत्य को, और उसकी गति में पग-पग पर विजड़ित परिवर्तन

को तथा दोनों के विरोधाभासी संघर्ष को अपने आत्म-संयम से पर्यवेक्षण की साधना बनाना प्रत्येक कलाकार का मूल ज्ञेय-तत्त्व है। कला मूक-मौन उदासीनता की गूँगी पाषाण-प्रतिमा नहीं। वह जीवनस्फूर्ति से अनुप्राणित और विकास-अभिलाषा से आतुर एक बँधी कली है, जो भावना के स्पंदन को छूकर अपनी सुध-बुध खो बैठती है। इस आत्म-विस्मृति में पँखड़ियों के अवगुंठन खुल पड़ते हैं और अनुभूति सौरभ के रूप में कण-कण पर प्रदर्शित करती है कि उसे कुछ कहना है। प्रकाश-प्रदर्शन और अभिव्यक्ति में ही कला की साध निगूढ़ है। जीवन के परिज्ञान और पर्यवेक्षण के उपरान्त कलाकार का हृदय इस घनीभूत प्रभाव-पुंज को अभिव्यक्ति द्वारा साकार-स्वरूप देने को उत्सुक हो उठता है। साहित्य के क्षेत्र में महाकाव्य, उपन्यास और नाटक ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ मानव-जीवन के (उसकी सम्पूर्ण भावनाओं और चिन्तनाओं के साथ) उपवन लगाये जा सकते हैं। यहीं मानव-जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति हो सकती है। अभिव्यंजना की इन तीन प्रणालियों में उपन्यास अधिक प्राकृतिक एवं सरल-सहज है; क्योंकि वह निर्बंध है और दुर्गम भी नहीं। इसके

अतिरिक्त वह अपने में ही पूर्ण है, उसका ध्येय उसी पर आश्रित है अर्थात् वही है—नाटक में पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए नाट्य की आवश्यकता पड़ती है, महाकाव्य में जीवन-अनुभूति के सम्पूर्ण चित्र बिना काव्यांगों के ज्ञान के नहीं ग्रहण किये जा सकते। साथ-ही-साथ वह इतना प्राकृत नहीं और न इतनी सीधी अपील (Direct appeal) देनेवाला ही।

प्रेमचन्दजी ने नाटक भी लिखे, किन्तु उपन्यास ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति है—उनके अनुभवों और आवेक्षणों की पूरी व्यंजना उपन्यासों में ही हो पाई है। उपन्यास की प्राकृत भूमि पर खड़े होकर उन्होंने मानव-जीवन को पूरी तरह देखा है; और उसी भूमि पर एक चतुर किसान की तरह उन्होंने अपने अनुभव और प्रभाव का आरोपण भी किया, जो हिन्दी की एक अनन्य सम्पत्ति हो गई।

जिन भावनाओं से प्रेरित होकर प्रेमचन्दजी ने उपन्यासों की सृष्टि की, उनके मूल में क्रियात्मक रूप से दो शक्तियों का प्रभाव है। अध्यात्म रूप से उनमें 'टालस्टाय' (Tolstoy) की मानव-साधना है और कलात्मक रूप से 'डिकेंस' (Dickens) की विविध रूपों में जीवन

का विश्लेषण और निरूपण करने की प्रणाली। वास्तव में 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों की अथ और इति, बाहर और भीतर सभी पर इन दो पाश्चात्य कलाकारों का एक उल्लेखनीय आवरण है। टाल्स्टाय की Redemption theory (परिहार-सिद्धांत) में पाप-पुण्य का मानव के साथ जो जीवन-संघर्ष है और परिणाम में पुण्य की जो आधिभौतिक विजय है, वह 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों की आधारभूत रस-वाहिनी है। किन्तु उनकी कला से निःसृत पश्चात्तापमय हृदय की करुण प्रताड़ना को 'प्रेमचन्द' नहीं अपना सके; और अंत में उन्हें परिणाम की भावना के लिए भारतीय दर्शन की शरण आना पड़ा। भारतीय दर्शन के 'समन्वयवाद' में उन्हें अपनी समस्याओं की पूर्ति मिली—"निराशा पर आशा की अंतिम विजय, विषाद पर उल्लास की चिरन्तन सत्ता"—आर्य-संस्कृति के इसी सूत्र में उन्हें परित्राण की छाया दीख पड़ी। इसके साथ-ही-साथ 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों पर मुस्लिम-संस्कृति का भी अप्रकाश रूप से गहरा प्रभाव है; किन्तु उनके हृदय की आर्य-संस्कृतिरूपी जाली से छनकर ही वह उनकी लेखनी में आया है—अपना बनकर, अपनी आत्मा लेकर। "अन्त में सारे दुःखों

के वृक्षों से, झाड़-झंकाड़ों से अमृत-से मीठे फल निकलेंगे ; तेरी रोती आँखों में हँसी खिलखिला पड़ेगी, तू तो यही जान कि वह है और दयालु है।" मुस्लिम-संस्कृति के इस आदि-सूत्र का विवेचन और निरूपण 'प्रेमचन्द' के 'कायाकल्प' में कितनी मार्मिकता से हुआ है।

'प्रेमचन्द' की प्रेरणा के मूलक ये सिद्धांत नहीं। ये तो उसमें सहायक रूप से आ पाये हैं। उनकी प्रेरणा का मूल तो महात्मा गांधी हैं। ये उपरि-लिखित प्रभाव तो छोटे-छोटे जल-स्रोतों की भाँति हैं, जो एक बहती नदी में अकसर मिल जाया करते हैं। 'महात्मा' का राष्ट्र-जागरण और सुधार-आह्वान निरीह भारत की जीर्ण नसों में नव-जीवन, नव-निर्माण का स्पंदन भर गया—उसी का संजीवन-संदेश 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों में है। महात्मा की जागृति के कंपन को वाणी का रूप देनेवालों में जिस तरह एक ओर कविवर गुप्तजी की काव्य-साधना की सत्ता है, उसी प्रकार दूसरी ओर 'प्रेमचन्द' की कथा-कला का अस्तित्व है। बाह्य रूप से देखने से ये कृतियाँ प्रचार की प्रश्रय और उपकरण मालूम होती हैं ; किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे मानवता की विस्तृत भूमि से विमुख होकर पूर्णतया एक दल-विशेष की संकीर्ण

भूमि में प्रस्थित हो गई। दल-विशेष के मतों और सिद्धांतों के प्रचार में अपने प्रयासों को सचेष्ट करनेवाली कृतियाँ केवल उस दल के अस्तित्व तक ही जीवित रह सकती हैं, उस दल के सदस्यों की संकुचित सीमा तक ही उनकी समवेदना और अपील हो सकती है—वे चिरन्तन नहीं हो सकतीं, वे समस्त मानव-समाज के हृदयों का संस्पर्शन नहीं कर सकतीं। 'प्रेमचन्द' की कृतियाँ अमर हैं, चिरन्तन हैं। क्योंकि उनमें किसी दल-विशेष की प्रचार-प्रचेष्टा नहीं—उनमें महात्मा की आत्मा है और महात्मा में आर्य-संस्कृति की आत्मा निगूढ़ है। आर्य-संस्कृति में जो सत्य है, जो शिव है, जो सुन्दर है, भारतीय राष्ट्र में जो जीवन है, जो मन है, जो चेतन है सब महात्मा की नव-उन्मेषिणी वाणी में फूट पड़ा है—'प्रेमचन्द' इसी सनातन वाणी के शब्द-चित्रकार हैं, इसी पुनीत प्रघोष के मूर्त्त-शिल्पी हैं, इसी शुचि संदेश के चतुर गायक हैं। वह एक राष्ट्र की भावनाओं के चित्रकार हैं; किन्तु जर्मनी और इटली के प्रखर-अंधस्वदेशाभिमान का आभास उनकी रचनाओं में नहीं आ पाया, जो पाशविक बर्बरता का एक भयावह ज्वाला-जाल है। "The Law of the jungle" (पशु-नियमता) की अनर्गल स्फूर्ति (Sensa-

tional touch) से अभिभूत स्वदेशाभिमान अन्य राष्ट्रों का शत्रु, अन्य संस्कृति का विरोधक और अन्य-कल्याण का निषेधक हो जाता है—जर्मनी की उमड़ती देशभक्ति इसी संकीर्णता की विपथगा प्रगति है। 'प्रेमचन्द' का राष्ट्र-वाद महात्मा के सत्य और अहिंसा के शुचि-चेतन से अनुप्राणित है और महात्मा के सत्य और अहिंसा में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अमर ज्योति है—आर्य-संस्कृति की शाश्वत चेतना है। फिर 'प्रेमचन्द' की रचनाएँ प्रचार-कला से अभिभूत क्यों ? वे विश्वजनीन भावों की अभि-व्यक्ति क्यों नहीं ? उनकी रचनाओं पर एक राष्ट्र की ही भावाभिव्यक्तियाँ होने की संकीर्णता का दोषारोपण किया जाता है ; किन्तु क्या विश्व-राष्ट्र में राष्ट्र विशेष की कोई परिगणना नहीं ?—

The world owes to little nations. The greatest art of the world was the work of little nations. The most enduring literature of the world came from individual nations. The heroic deeds that thrill humanity through generations were the deeds of little nations fighting for their freedom. God has chosen little nations as the vessels by which

He carries the choicest wines to the lips of humanity to rejoice their hearts, to exalt their vision to stimulate and to strengthen their faith.

[छोटे राष्ट्रों का संसार के ऊपर एक बड़ा क़र्ज़ है। विश्व की सर्वोच्च कला छोटे राष्ट्रों का ही निर्माण है। विश्व का चिरन्तन साहित्य छोटे राष्ट्रों से ही सृजित हुआ है। शौर्य के कार्य जो कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी से मानवता को प्रभावित करते रहे हैं, अपने स्वातंत्र्य के लिए लड़नेवाले छोटे राष्ट्रों की ही कार्यावली हैं। छोटे राष्ट्र वे बर्तन हैं जिनमें आसव भरकर ईश्वर मानवता के होठों पर लगाता है जिससे हृदय प्रफुल्लित हो जाते हैं, दृष्टि उद्दीप्त हो जाती है और विश्वास जागृत एवं दृढ़ हो जाता है।]

ऐसे चित्रण में राष्ट्रीय-संकीर्णता का आभास कहाँ ? विश्वजनीनता इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? क्या 'प्रेमचन्द' के इन चित्रों में विश्व-व्याप्त भावना (Universal appeal) नहीं ? दो शब्दों में अभिप्राय यह कि 'प्रेमचन्द' की रचनाएँ प्रचार (Propaganda) की भाव-वाहिनी नौकाएँ नहीं, वे विश्व-साहित्य की वस्तुएँ हैं और अमर वस्तुएँ हैं।

किसी लेखक की रचना का प्रत्येक शब्द विश्वजनीन

भावनाओं का प्रतीक नहीं होता ; उस रचना में कुछ ऐसे भाव एवं विचार गुँथे होते हैं, जिनका स्पर्श प्रत्येक मानव को भाव-कंपन की अनुभूति प्रदान करता है। शेक्सपियर के नाटकों के प्रत्येक स्थल सम्पूर्ण मानवता की भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं, डिकेंस की कृतियों का प्रत्येक पृष्ठ देश-काल की सीमित भावनाओं से विमुक्त नहीं—हाँ, कुछ ऐसे एकाध स्थल आ जाते हैं, जहाँ लेखक की विचार-धारा समस्त मानव-प्राकृत भावना में स्वच्छंद हो विहार करने लगती है—यही विश्व-जनीनता की साधना है।

यह हुआ 'प्रेमचन्द' की भावना का विवेचन और उनकी कला के आंतरिक स्वरूप का निरूपण। अब उनकी कला की बाह्य रूप-रेखा का विश्लेषण करना आवश्यक है, जो हिन्दीगद्य की एक अनन्य विशेषता है और एक शोचनीय अभाव की पूर्ति है। स्थूल रूप से 'प्रेमचन्द' की अभिव्यक्ति-कला वर्णन-प्रधान है। वे एक वर्णनात्मक व्यंजना के कलाकार हैं। उनकी समस्त कृतियों में वर्णन ही एक आधार-स्थायी तत्त्व है, जिसके बिन्दु पर सारी घटनाएँ, सारे पात्र और सारी समस्याएँ आवर्त्तन करती हैं। यदि वर्णन की यह प्रकाश-रेखा इनके उपन्यासों से बहिष्कृत कर दी जाय तो उनके उपन्यास निर्जीव शरीर

का-सा आभास देने लगें। बँगला में बंकिम का वर्णन एक परिपूर्ण विशेषता है—किन्तु बंकिम के वर्णन और प्रेमचन्द के वर्णन में एक मार्मिक अंतर है। बंकिम का वर्णन चरित्र-चित्रण के आधार पर चलता है और 'प्रेमचन्द' का चरित्र-चित्रण वर्णन के आधार पर। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही उपन्यासकार का साध्य है। वर्णन तो एक आश्रयकारी साधना है। इसीलिए 'प्रेमचन्द' का चरित्र-चित्रण बंकिम की भाँति संश्लिष्ट एवं पूर्ण नहीं हो पाया, वरन् वर्णन के अनावश्यक विस्तार कहीं-कहीं पात्रों को एक असावधानी-विशेष तथा प्रतिरोध आलोक में रख देते हैं, जिसमें आवृत होकर वे अपनी स्वाभाविक गति से विभ्रांत हो जाते हैं। बंकिम की भाँति प्रकृति को घटना की पृष्ठपोषक भूमि (background) 'प्रेमचन्द' की तूलिका ने भी बनाया है' किन्तु बंकिम-जैसा प्रकृति का साष्टांग और भावमय चित्रण नहीं हो पाया। वर्णन-प्रधानता के क्षेत्र में फ्रांस के ड्यूमा (Dumas) की बड़ी ख्याति है, किन्तु उसका वर्णन वस्तु-वर्णन की ऊपरी सतह पर नहीं रुकता, वरन् वह अंतरतम के गूढ़ स्तरों का विश्लेषण करता हुआ मानव-जीवन का पूर्ण चित्र खींच देता है—उसका वर्णन हृदयगत भावनाओं के घात-प्रतिघातों का विवेचनात्मक विश्लेषण

है। वह जीवन की बाहरी परिधि को लाँघकर हृदय की आभ्यंतरिक क्रीड़ास्थली पर खड़ा हो जाता है और वहाँ की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावना-लहरों की गति-विधि का वैज्ञानिक आवेक्षण करता है। 'प्रेमचन्द' का वर्णन अधिकतर बाह्य जीवन का विश्लेषण है; जिसमें जीवन के दैनिक व्यवहार में प्रस्तुत होनेवाली घटनाओं की मार्मिक व्याख्या है। मनुष्य की प्रतिदिन की संघर्षशालिनी परिस्थितियों के आरंभ-अंत, तरंगाभिघात तथा जीवन की प्राकृत गति में सहयोग एवं प्रतिरोध आदि पक्षों पर 'प्रेमचन्द' की लेखनी से जो चित्र प्रसूत हुए हैं वे अत्यंत मार्मिक हैं। वे हृदय-संघर्ष के कलाकार नहीं, जीवन-संघर्ष के स्थूल पहलू के सफल चित्रकार हैं। इसी में वे अद्वितीय हैं।

अँगरेज़ी में हार्डी (Thomas Hardy) तथा लारेंस (D. H. Lawrence) की वर्णन-चातुरी भी विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों कलाकारों की वर्णनशील तूलिका से जिस वातावरण की सृष्टि हुई वह अँगरेज़ी भाषा में एक बड़े महत्त्व की देन है। किन्तु 'प्रेमचन्द' का वर्णित वातावरण हार्डी और लारेंस से एक भिन्न गति में हमारे सम्मुख आता है। 'प्रेमचन्द' ने जीवन को आदर्शवाद के

चश्मे में से देखा जिसमें जीवन की श्यामलता में भी उज्ज्वलता का आभास दृष्टिगत होता है। उनके कुत्सित परिस्थितियों के चित्रण में जो समझदारों का-सा संयम है और विद्रोही की-सी जो उदासीन उपेक्षा है—वह एक खटकनेवाली दोष-प्रवृत्ति है। कला इतनी प्रबंधित वस्तु नहीं, जो वास्तविक सत्य का नाम सुनकर इतनी उदासीन और आबद्ध बनी रहे। आदर्शवाद की भी एक ख़ास सीमा होती है; वह मनु बाबा की ब्रह्मचर्य-पालन की नियमावली नहीं। हार्डी और लॉरेंस यथार्थवादी हैं; पर उसी परिमाण में, जिसमें कि 'प्रेमचन्द' आदर्शवादी हैं। इसके अतिरिक्त हार्डी के उपन्यासों में जितनी परिपूर्णता में गाँवों के चित्र मिलते हैं उतनी परिपूर्णता में नगरों के भी। दोनों प्रकार के वातावरण और कार्यकलापों में हार्डी ने अपनी वर्णन-शक्ति की पराकाष्ठा का परिचय दिया है। 'प्रेमचन्द' नागरिक जीवन के चित्र नहीं खींच पाये। उनके उपन्यासों की मुख्य भूमि है गाँव। ग्राम्य-जीवन के जितने सरस एवं हृदयग्राही चित्र उनके उपन्यासों में मिलते हैं; वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके ग्राम्य-चित्रों में लेखक की जिस अपूर्व पर्यवेक्षण-स्फूर्ति, स्थायी-स्मृति तथा स्वाभाविक सरसता का परिचय प्राप्त होता है, वह इतनी

मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ लगभग संसार के किसी भी उपन्यासकार में नहीं मिलता। ग्राम्य-जीवन के सजीव चित्रण में 'प्रेमचन्द' श्रेष्ठ हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति अमिट रूप से परम्परागत होती हुई ग्रामों में ही अक्षुण्ण रह पाती है। एक बार अनातोले फ्रांस से एक जर्मन ड्यूक ने पूछा :

'महाशय मैं अपने देश से फ्रेंच-संस्कृति एवं सभ्यता का अध्ययन करने आया हूँ; पर दो साल तक पेरिस में रहते हुए भी मैं जैसा आया था वैसा ही हूँ।'

अनातोले फ्रांस ने कहा :

'महाशय, यह आपको किसने बताया कि आप पेरिस में रहें और फ्रेंच-संस्कृति का अध्ययन करें। क्या आपको स्मरण नहीं कि किसी देश की संस्कृति के अध्ययन करने का एकमात्र विद्यालय है गाँव। आप कृपया किसी देहात में जाकर रहें।'

अतः ग्राम्य-जीवन का चित्रण करते हुए 'प्रेमचन्द' भारतीय संस्कृति के मूल तक पहुँच गए—आधुनिक समय में यदि भारतीय मंदिर में आर्य-संस्कृति का कोई सच्चा पुरोहित है तो 'प्रेमचन्द'।

सरलता 'प्रेमचन्द' की अपनी चीज़ है, वे सरल हैं, उनके

जीवन-सम्बंधी विचार सरल हैं, उनकी कल्पना सरल है। हम उनके किसी भी उपन्यास को प्रारंभ से अंत तक कहीं भी दुरूहता, जटिलता की छाया भी छूते नहीं पा सकते। उनके शब्द-चित्र सरल हैं, क्योंकि उनके पात्र, उनकी कल्पना, वातावरण और भावना सभी सरल हैं। अत्यंत सरलता से उनकी कथा-वस्तु का आरंभ होता है, सरलता से उसका विस्तार भी होता है और सरलता में उसकी यवनिका भी गिर जाती है। कथा-वस्तु के इस सरल प्रारंभ से औत्सुक्य की भावना नष्ट हो जाती है, जो उपन्यास की गति में भाव-प्रवेग और प्राण-प्रवाह भरने के लिए आवश्यक है और जिसके अभाव में उपन्यास की मनोरंजकता तथा हृदय-ग्राह्यता कथा-क्षेत्र से बड़ी दूर जा पड़ती है।

चरित्र-चित्रण में 'प्रेमचन्द' विश्लेषणात्मक प्रणाली के प्रश्रय को ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्णनात्मक प्रणाली भी काफ़ी मात्रा में प्रयोग में लाई गई है। वर्णन में चरित्र का विकास घटना और परिस्थितियों की प्रगति के साथ नहीं होता जो अस्वाभाविक-सा हो जाता है; क्योंकि पात्रों और परिस्थातियों का अन्योन्याश्रय सम्बंध है। चरित्र-चित्रण की एक और प्रणाली विशेषकर

'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' में दृष्टि-गत होती है, जिसमें कार्यों द्वारा आत्माभिव्यक्ति करने की ओर लक्ष्य है। शरत् बाबू का चरित्र-चित्रण इसी प्रणाली के प्रश्रय में हुआ है। इस प्राकृत-प्रणाली के वातावरण में चित्रित 'सोफ़िया' और 'मनोरमा' 'प्रेमचन्द' की अमर विभूतियाँ बन गई हैं। उपन्यास के अन्य उपकरणों में सरलता की भाँति उनकी भाषा में भी सरलता की सजीव प्रतिमा निगूढ़ है। साधारण बोल-चाल की भाषा में ही उनके जीवन-विज्ञान-विश्लेषण प्रसूत हुए हैं। भावों और पात्रों के अनुकूल भाषा 'प्रेमचन्द'जी की यथार्थ वातावरण-सृष्टि की एक अनुकरणीय साधना है। उर्दू से ही 'प्रेमचन्द'जी हिन्दी में आए थे, अतः उन पर उर्दू-शब्दों के बाहुल्य का दोषारोपण कुछ अन्याय की भावना अवश्य रखता है। 'प्रेमचन्द' की भाषा उपन्यास की एक Model है। उपन्यास की भाषा कैसी होनी चाहिए? इसका स्वरूप 'प्रेमचन्द' के उपन्यासों में मिलता है।

'प्रेमचन्द' हिन्दी की अनन्य सम्पत्ति हैं। वे हिन्दी के शरत् हैं, वे हिन्दी के Dickens हैं—आज वे अकाल-मृत्यु की गोद में विश्राम कर रहे हैं, किन्तु उनकी आत्मा की वाणी अमर है; उसने हिन्दी को अमर गौरव प्रदान

किया, उसने हम हिन्दीवालों को औपन्यासिक जगत् के सामने आँखें उठाने का आत्मबल दिया। कितनी ओत-प्रोत थी उनकी वाणी हमारी भावनाओं से—

Was never voice of ours could say
Our inmost in the sweetest way,
Like yonder voice aloft, and link
All heares in the song they drink.

—*Meredith.*

रहस्यवाद और छायावाद

भविष्य में यदि इतिहासकार वर्तमान युग के नामकरण की चेष्टा करेगा तो उसे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। बड़ी सरलता से वर्तमान युग को 'वाद'-युग कह सकते हैं; और इसमें किसी को भी तर्क-वितर्क तथा भाव की दृष्टि से आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वर्तमान युग की सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा सूक्ष्म तत्त्वों पर इस 'वाद' शब्द की अमिट छाप इतनी व्यापकता एवं गहराई से लग गई है कि उसको नगण्यता में ढकेलना असम्भव प्रतीत होता है। जगत् में अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो किसी भी प्रकार की दृष्ट एवं अदृष्ट सीमाओं में परिमित तथा आबद्ध नहीं की जा सकतीं। उनको किसी सीमित पिंजरे में बंद करना उनके

हृदय को परिच्छिन्न करना है। कला और जीवन सचेतन की दो उन्मुक्त विभूतियाँ हैं ; वे फूल की सौरभ की भाँति स्वच्छंद एवं निर्भर की गति की भाँति निर्बंध हैं। उन पर किसी भी बाहरी नाम की अथवा स्वभाव की आरोपणा एक कठोर प्रतिबंधना है। किन्तु वर्तमान युग का 'वाद'-परिप्लुत व्यक्ति, जीवन और कला को भी 'वाद' के चश्मे से रहित नेत्र से नहीं देख सकता। कविता-जैसी विश्व-विहारिणी सूक्ष्मतम विभूति को भी उसने 'वाद' के कठघरे में क़ैद कर दिया। वर्तमान युग के कंठ से प्रसूत काव्य-वाणी इसी प्रवृत्ति से लाचार होकर 'छायावाद' के रंग से रंजित दीखती है। किन्तु यहीं तक समाप्ति नहीं है। उसे 'छाया' की चादर के साथ-साथ 'रहस्य' की परोक्ष चुनरी भी ओढ़नी पड़ी है।

इस प्रकार रहस्यवाद तथा छायावाद की परिव्याप्ति तथा वर्तमान कविता में उनकी इतनी विशद अभिव्यक्ति इस बात की आवश्यकता उपस्थित करती है कि उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं विस्तृत विवेचन किया जाय। दोनों 'वादों' का रंग, दोनों का प्राण वर्तमान साहित्य की सौरभ में इतनी गहनता से निगूढ़ है कि बिना इनका सच्चा स्वरूप जाने तथा इनकी भावना पहचाने साहित्य के

तत्त्व का परिपूर्ण रसास्वादन नहीं हो सकता। जिस भाँति गुलाब के फूल को देखे तथा सूँघे बिना उसके सौन्दर्य तथा सौरभ का महत्त्व ज्ञात नहीं हो सकता ; उसी भाँति छायावाद एवं रहस्यवाद की मूल भावना और हृदयस्थ आत्मा का सूक्ष्म आवेक्षण किये बिना छायावादी एवं रहस्यवादी कविता भी पूर्णतया अपने सम्प्रति महत्त्व में नहीं दृष्टिगत होती। उनको समझने से पहले, उनमें सिंचित प्राण-रस का पान करने से पहले, छायावाद एवं रहस्यवाद के मूल तत्त्वों का निरूपण समझना होगा—आत्मा को समझने से पहले शारीरिक चेष्टा-प्रचेष्टा पर दृष्टिपात करना होगा।

छायावाद कोई नई चीज़ नहीं है और न यह वर्तमान के गर्भ से प्रसूत कोई नया 'आश्चर्य' (wonder) ही है। प्रथम मानव के जन्म से लेकर आज तक इसका ऐसा ही प्रभुत्व एवं अस्तित्व रहा है जैसा कि आजकल है। अंतर केवल इतना ही है कि आज इसका नाम छायावाद है और आज से पूर्व कुछ और था। जिस समय प्रथम मानव ने मुसकाते हुए सुमन में, लजाती हुई कली में, कलकल करती निर्झरिणी में अपने ही प्राणों-जैसी कोई प्राण-छाया धूम्रावरण ओढ़े देखी, उसी समय छायावाद की

भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौंच-पक्षी की मर्म-वेदना का आघात आदि-कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उस पक्षी की पीड़ा को आदि-कवि ने उसी रूप में अनुभव किया जिस रूप में उस पक्षी के प्राणों ने किया था, उसी समय छायावाद की निर्झरिणी आलोड़ित हो उठी थी। छायावाद का सम्बन्ध भाव जगत् से है, हृदय की भूमि से है। भावलोक की सत्ता जिस प्रकार केवल अनुभव की ही वस्तु है, केवल हृदय से जानने की ही वस्तु है; उसी प्रकार छायावाद भी अनुभव करने की तथा हृदय की पंखड़ियों पर तौलने की चीज़ है।

जिस प्रकार हम प्राणधारियों में एक ही प्राण का प्रवेग एक हृदय से लेकर दूसरे हृदय तक, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक लहराता है; उसी भाँति सारी दृष्ट प्रकृति एक ही प्राण की अभिन्न लहर से ओत-प्रोत है। उपवन की सुकुमार कली से लेकर विजन वन की कठोर झाड़ी तक एक ही प्राण-प्रवाह की हिलोर आती-जाती है—एक ही जीवन-वारि से सब सजल हैं, एक ही आंतरिक सूक्ष्म तत्त्व से अनुप्राणित हैं। प्रकृति में व्याप्त यह प्राण-तरंग और प्राणधारियों में सिंचित प्राण-ऊर्मि

दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं ; वरन् एक ही सागर के जल की वीचियाँ हैं। वह सागर है उस 'महापुरुष' के 'महाप्राण' का अनंत प्लावन। अत: यदि प्राणधारी प्रकृति में अपने प्राणों की धूमिल छाया देखे अथवा प्रकृति प्राणधारियों में अपने प्राणों की झिलमिल झाँकी पावे तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं। आत्मीयता हर जगह और हर अवस्था में गतिशील रहती है। आत्मीय के प्रति ममत्व का भाव चेतन तो चेतन, जड़ पदार्थों में भी निराकृत नहीं हो सकता। स्वाभाविक रूप से यों तो एक मानव की समस्त मानव-समाज के प्रति आत्मीयता होती है, एक पशु की समस्त पशुजगत् के प्रति ममता होती है ; हाँ, कभी-कभी जब स्वाभाविक रूप से मनुष्य अस्वाभाविक रूप धारण कर लेता है, तो अनात्मीयता का विकट तांडव भी होने लगता है। किन्तु मानव के जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं जब उसका अस्तित्व अपनी मानवीय सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। उस समय मानव की ससीम आत्मानुभूति मुक्त होकर समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने लगती है। अपने घरोंदे से उठकर मनुष्य की भावानुभूति सूक्ष्म 'ईथर' (Eather) की भाँति प्रकृति के कण-कण

से स्नेहालिंगन करने लगती है। उस समय आत्मा अपना ही चित्र, अपना ही 'स्व' (self) प्रत्येक स्थल पर देखती है। इस समत्व आत्मीय क्षण में परिचय करानेवाली अनुभूति और सम्बन्ध जोड़नेवाली चेतना दोनों भी अपना अस्तित्व भूल जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं—केवल रह जाती है एक ही सत्ता, या तो हम या हमारे से सम्बन्धित पदार्थ—दोनों एक-दूसरे में निगूढ़ और एकात्म—पूर्णतया अभिन्न ! अनजाने फिर अधरों से एक निर्झरिणी बह पड़ती है—

कहीं से आई हूँ कुछ भूल !
किसी अश्रुमय घन का हूँ कन
टूटी स्वर-लहरी की कम्पन
या ठुकराया गिरा धूलि में
हूँ मैं नभ का फूल !

—महादेवी वर्मा

अपने ही अश्रुमय जीवन का 'घन' के जीवन में आभास, अपने ही विशृंखल मन का 'टूटी स्वर-लहरी' में साकार चित्र और अपने ही विजन अस्तित्व का 'नभ के ठुकराए, गिरे' शरीर में एकात्म-रूप—कितनी करुण समता की झलक है। यही समता आगे चलकर समता के द्वैत को छोड़कर ऐक्य का अद्वैत हो जाती है—

जब अपनी निश्वासों से
तारे पिघलातीं रातें,
गिन-गिन धरता था यह मन
उनके आँसू की पाँतें।

घिर कर अविरल मेघों से
जब नभ-मंडल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर आता।

गर्जन के द्रुत तालों पर
चपला का बेसुध नर्तन;
मेरे मन बाल शिखी में
संगीत मधुर जाता बन।

—महादेवी वर्मा

यही छायावाद का सजीव चित्रण है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावानुभूति में समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव-सत्ता से समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—उस समय की परिपूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो

प्रतिमा निर्मित होगी, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव-व्यंजना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी——वह सब छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित, उसकी ही गति से गतिशील तथा उसके ही रंग में रँगी होगी।

हमारे धार्मिक शास्त्रों में उपदेशों की ऐसी लड़ियाँ बिखरी हुई हैं जिनमें समता का प्रबोधन है, प्राणि-मात्र को समान और अपने समान समझने की शिक्षा है। हमारे महापुरुष, हमारे महात्मा अपनी आत्मीयता समस्त विश्व में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसारित किया करते हैं। किन्तु इसमें पूर्वनिर्देशित छायावाद की छाया का भी भ्रम न होना चाहिए। ठीक है, इसको भी समता-साम्य-न्याय से छायावाद कह सकते हैं; किन्तु विशुद्ध छायावाद, और विशेषतः काव्य का छायावाद, इस प्रबोधन के छायावाद से एक दूसरी ही चीज़ है। विशुद्ध छायावाद का सम्बन्ध भावलोक से है, वह अनुभूति के पंखों से भाव-जगत् पर उड़ता है। उसमें चेतना तथा तर्कना के लिए कोई स्थान नहीं। इसके प्रतिकूल प्रबोधन अथवा ज्ञान का छायावाद या तो पूर्णतया तर्क की वस्तु है, या केवल साधन करने की ही साधना है। ज्ञान का

छायावाद आचार का विषय है, दर्शन का परिणाम है और भावना का छायावाद अनुभूति का, भावात्मक प्रतीति का। अत: दोनों में भ्रम हो जाना आश्चर्य नहीं।

छायावाद की परिधि के पार की वस्तु रहस्यवाद है। छायावाद यदि किसी मकान के द्वार की देहरी है तो रहस्यवाद उस मकान के भीतर का अंतर्पट। छायावाद यदि 'गोपद-सिंधु' है तो रहस्यवाद उससे आगे का अगम सिंधु। छायावाद में कुछ झिलमिल 'अस्ति' का भाव है, एक छाया है, किन्तु रहस्यवाद में एक 'शून्य' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। 'शून्य' कहना ज़रा कुछ उसके महत्त्व को न्यून-सा करना है—उसे वह 'शून्य' कह सकते हैं, जहाँ 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों भाव एक हो जाते हैं, छायावाद प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में अपने ही प्राणों के समान एक प्राण-चेतना अभिभूत देखता है और अपनी आत्मीयता की बाँहें बढ़ाकर उसे अपना बना लेता है, उसमें अपने को तथा अपने में उसको देखने लगता है; किन्तु रहस्यवाद इससे भी आगे बढ़ जाता है। वह समस्त प्रकृति में अपने प्राणों की प्रवेग पयस्विनी न देखकर उस पयस्विनी के निर्माणकर्ता एवं नियंत्रणकर्ता की पुनीत प्रतिमा देखता है। वह प्राण को न देखकर

प्राण के प्रणेता पर अपनी प्रतीति निगूढ़ करता है। फूल की मोहक मादकता में उस अदृष्ट शक्ति की तन्मयता, बादल के गंभीर घोष में उसके आक्रोश का प्रतिबिंब, उषा के सौन्दर्य में उसका अनंत सौन्दर्य तथा लहरों के सजल गान में उसका ही मुखर—सब रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ हैं। रहस्यवाद में इस समग्र जड़-चेतन की अनुरूप-प्रतिरूपता नहीं है, वरन् इससे ऊपरी सतह की चीज़ है—वह है प्रतिरूपता पर निरन्तर शासन एवं प्रतिशासन करनेवाली एक रहस्यमयी सत्ता की आभा, विश्व-प्राण की अपेक्षा विश्वेश्वर के महाप्राण की दिव्य झलक। वास्तव में मोटे तौर से ये तीन सोपान हैं, जिसके आगे प्राणी का निश्चित गंतव्य है—साधारण प्राण से विश्व-प्राण, और विश्व-प्राण से महाप्राण। सूक्ष्म भावना के दृष्टिकोण से हम सम्पूर्ण चराचर विश्व को इन्हीं तीन सोपानों के अनुसार तीन विभिन्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला भाग तो वह जो साधारण सतह ही पर रहता है, अर्थात् स्वप्राण की ही साधना में रत रहता है, दूसरा भाग वह जो विश्व-प्राण की अनुभूति में समस्त जगत् से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है और तीसरा भाग वह है जो इन दोनों सीढ़ियों को पारकर 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है।

रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम-स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उच्छ्वसित-उत्स मस्तिष्क है। दोनों का अपना-अपना स्वरूप है और साधना की दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व है। दोनों में इतना ही अंतर है जितना एक नियमित और निश्चित सड़क में और नदी के वक्ष पर चलती हुई नौका के पथ में। एक के आसपास सुनसान निर्जन है और दूसरे के सुमधुर संगीत की ध्वनि। यदि साहित्यिक नामकरण ही किया जाय तो हम एक पथ को निर्गुण पथ कह सकते हैं और दूसरे को सगुण। एक में चेतना का शून्य व्याप्त है, दूसरे में भावना की सौरभ। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में संसार की अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय, तथा ज्ञान-चिन्तना आदि मुख्य तत्त्व हैं, जिनके प्रतिक्रिया-स्वरूप रहस्यवाद की उद्भावना होती है। भावना का रहस्यवाद भी अपने प्राणों में तीन उपादान लेकर चलता है—पहला मानव-प्रेम, दूसरा आश्चर्य का भाव और तीसरा आत्मा की परमात्मा से विरह-अनुभूति। मानव-प्रेम के स्थान पर चेतन-प्रेम कहें तो अधिक उत्तम होगा।

गोस्वामी तुलसीदासजी का रहस्यवाद इसी भाँति का था—उनकी 'सियाराममय सब जगजानी !' चौपाई में इसी मानव-प्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। कबीर में भी थोड़ा इसका आभास पाया जाता है। दूसरा स्वरूप इस भावनामूलक रहस्यवाद का है आश्चर्य की भावानुभूति। ऐसी अनुभूति के समय कवि की दशा एक अबोध बालक की-सी हो जाती है। ऋग्वेद की ऋचाओं में, गीता के विराट्-स्वरूप-प्रदर्शन में तथा कबीर की उलटवासियों में इसी रहस्यवाद का स्वरूप निहित है। अपनी विनयपत्रिका में गोस्वामीजी ने इसका कितना सुन्दर चित्र खींचा है :

केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मन-हि-मन रहिए।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटे न मरइ भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी आश्चर्य के भाव का बड़ा ही सुन्दर एवं रहस्यवादात्मक काव्यमय भाव-चित्र अंकित किया है :

शून्य नभ में उमड़ जब दुखभार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा

बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी;
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित् की मुस्कान में वह कौन है ?

आश्चर्य के भाव के अतिरिक्त एक भाव और रहस्यवादी कविता का जन्मदाता है—वह है आत्मा की परमात्मा से विरह-भावना। सर्वभूत-आत्मा उस महान् आत्मा का ही एक परिच्छिन्न अंश है। इसको उससे बिछुड़े हुए कल्प बीत गये—कई चन्द्र उदय होकर डूब गये, किन्तु 'महामिलन' का क्षण अभी नहीं आया। आत्मा इसी 'महाविरह' में क्रंदन कर उठती है :

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के।
—प्रसाद

इसी आध्यात्मिक विरह की विदग्धता में जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। कोमल-करुण भावना अधरों से निर्झर की भाँति निसृत हो पड़ती है :

नहीं अब गाया जाता देव
थकी उँगली, ढीले हैं तार
विश्व-वीणा में अपनी आज
मिला लो मेरी भी झनकार।
—महादेवी वर्मा

सारांशत: रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महा-अस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।

छायावाद की व्यापकता

आजि ए प्रभाते सहसा केनरे
पथहारा रवि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिए
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा !

—रवीन्द्र

रीति-काल की बाह्य-सौन्दर्य-प्रधानता, अभिसारिका-मुग्धा-नायिकाओं की अनेकात्मकता तथा उनके बाह्य-शृङ्गार, अङ्गराग, केश-कलाप आदि से उत्पन्न उद्दाम-शारीरिक वासना से भक्ति-काल की मुरली-माधुरी की

पवित्रता और मर्यादित-जीवन की सदाचारिता पंकिलता की गोद में शयित हो गई। कबीर की सान्त-अनंत-मिलन की साधना से प्रफुल्ल हिन्दी-काव्योपवन विलासिता की श्यामलता में एक अन्धकार-ग्रस्त कन्दरा बन गया। तुलसी की कला से संजीवित तथा सूर की अनन्य-हृदयता से निर्मल कविता-कामिनी का सहज-सुन्दर शरीर बनावटीपन (Artificiality) से जकड़ दिया गया।

इसी अन्धकारमय क्षितिज पर सहसा एक निर्मल-ज्योति की प्रभा अवतरित हुई। कविता-सुन्दरी अपने बन्धनों से मुक्त होकर इस 'आंधार सलिले' में जीवन की, परिवर्तन की, तथा प्रतिभा की एक ज्योति-किरण लेकर आई। उसमें अतीत का हास-रुदन था, वर्तमान का उत्थान-पतन था और था भविष्य के प्रति एक प्रकाशमय सन्देश। जीवन-सी स्वच्छन्द तथा आत्मा-सी निर्लेप यह किरण उदित हुई थी; किन्तु पार्थिव-अस्तित्व में रहकर वह निर्लिप्त नहीं रह सकी—वह भी 'छायावाद' नाम के बन्धन में बँध गई। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रग-रग में इसी 'छायावाद' नाम की जीवन-ज्योति का उदात्त प्रवाह है; इसी क्रान्ति-शील किरण का मधुर प्रकाश है।

छायावाद की कविता हमारे आसपास के संसार की

इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करती है। इतिवृत्तात्मकता कविता की सामग्री नहीं ; वह कविता की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप पड़ती है। इसी प्रकार जीवन-स्पर्शिता विज्ञान का प्राण नहीं, वह भाव के सुरम्य देश की ही निवासिनी है। इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य-सौन्दर्य से है ; आन्तरिक तथा सूक्ष्म के सौन्दर्य से नहीं। इसी के विपरीत छायावाद का सम्बन्ध आन्तरिक सौन्दर्य तथा सूक्ष्म आत्मा से है। बाह्य-सौन्दर्य-साधनावाला कवि एक फूल के सर्वाङ्ग का ही वर्णन करेगा ; किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायेगा, जो उसकी आत्मीयता तथा उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है।

छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग स्थापित करने की साधना करता है। यही कला के रहस्य की खोज है, उसका स्पष्ट उद्घाटन है। इस स्थिति पर पहुँचकर कवि अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत सुनने लगता है। यह संगीत कभी

आनन्दमय, कभी विषाद-पूर्ण ; परन्तु सदा नवीन ही बना रहता है। संसार का कण-कण इसी स्वर-लहरी के मधुर पाश में परस्पर बँधा है ; किन्तु हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और उस चैतन्य के बीच, एक गहरा आवरण पड़ा हुआ है, जिससे हम उसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ने इस सूक्ष्म का रहस्योद्घाटन किया ; उनकी हृत्तन्त्री बरबस झंकृत हो उठी :

हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें ?
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें !
हृदय तू बना है जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें !
मिला अब कौन-सा नवरत्न, जो पहले न था तुझमें ?

कण-कण में अनुप्राणित रागिनी की स्वर-लहरी एक बार रवीन्द्र के अन्तस्तल में गूँज उठी थी। भोला कवि इस रहस्य को नहीं समझ सका। वह अपने हृदय की ओर मुड़कर प्रश्न करता है :

बाजिलो कहार बीना मधुर स्वरे !
आमार जीवन निभृत परे
जागि उठे सब शोभा सब माधुरी,
पुलक-पुलक हिय मुदित तरी

—रवीन्द्र

आधुनिक जगत् बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद का उपासक है। भौतिकता मनुष्य की अभिवृद्धि कर सकती है, विकास नहीं कर सकती। आज मानवात्मा संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुःखों से जर्जर होकर, अविकसित अवस्था में पड़ी हुई है। इस समय उसको यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है, जो उसे अतुल शक्ति से सम्पन्न कर बाह्य-प्रकृति के अत्याचारों से मुक्त प्राप्त करने को कटिबद्ध कर दे। इस समय मानव-जीवन अपने बाह्य क्षेत्रों और विभागों को संगठित एवं असीमित कर, अपने आंतरिक जीवन से उदासीन होता जा रहा है; इतिवृत्त का उपासक बनकर मानव अपनी आत्मा को एक नवीन कारा निर्मित कर रहा है। छायावादी कवि अपने अस्तित्व का बलिदान इसी उदासीनता के विनाश तथा कारा के परिवर्तन की वेदी पर कर देता है। वह विज्ञान की बाह्य-सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आंतरिक जीवन दिखलाने का प्रयत्न करता है। अपनी अन्तर्दृष्टि से वह जग-जीवन के मर्म में प्रवेश करता है और अपनी आत्मा की साधना से अन्तर्जीवन का ज्योतिमय चित्र प्राप्त करने में सफल होता है। इसी को वह मधुर स्वरूप देकर, स्वर-लहरी की माधुरी से परिप्लावित कर पथ-

भ्रान्त, विवश, परिश्रान्त मानवात्मा के सम्मुख रख देता है :

सर में जीवन है, इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल,
सरिता में जीवन, इससे ही
वह गाती जाती है 'कल-कल'

—बच्चन

उपर्युक्त विवेचना से कदाचित् रहस्यवाद को ही छायावाद समझने का भ्रम हो सकता है और वास्तव में दोनों एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाये उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत् हैं, उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीन पूर्ण आध्यात्मिक है। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है, वह केवल आत्मा और जगत् के ही प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार Matter of fact के आगे की चीज़ छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज़ रहस्यवाद है। छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा

आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतन का विकास या आभास पाते हैं, तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी। यही रहस्यवाद और छायावाद का एक छोटा-सा अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादी जीवन का कम्पन नहीं; किन्तु अपने प्रियतम की रूप-माधुरी देखना है :

सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव-नव अस्फुट हास,

इन्हीं सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन-पाश माँगता है :

गाओ, गाओ कुसुम-बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल-स्वर में कर लूँ स्नान,

हाँ सखि ! आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले, जुड़ा लें प्राण !
—पंत

आधुनिक हिन्दी-काव्योपवन छायावाद के काव्य की मलय-पराग, उसकी कलिकाओं के हास-विलास तथा सुधा-स्राविणी पंचम-तान से इस प्रकार आप्लावित है कि उसमें अन्य प्रकार के कलित-कूजन का कोई अपना स्वच्छंद अस्तित्व ही नहीं रह गया है। जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करती हुई, प्रकृति तथा दृश्य-जगत् के सभी उपकरणों को प्रणय-पाश में बाँधती हुई तथा भावों के सभी तारों से माधुरी-स्रोत बिखेरती हुई छायावाद की कविता कण-कण के साथ अपना जीवन-सम्बन्ध स्थापित कर रही है। अत: उसकी प्रगति का एक सवाक् चलचित्र खींचने के लिए आवश्यक है कि उसके भावों के विषयों पर सरसरी-दृष्टि से विचार कर लिया जाय।

सौन्दर्य

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, यह मन के भीतर की वस्तु है। इसकी पूर्णता के लिए अंतस्सत्ता की तदाकार-परिणति की आवश्यकता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान

या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। सौन्दर्य काव्य का एक प्रधान उपकरण है। छायावाद के काव्य में भी सौन्दर्य अपनी पूर्ण कला में उदित हुआ है। सौन्दर्योपासक कवियों ने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' जाति को नाना रंगों के आवरण पहना उसे अनेक कोणों से देखा है। पाश्चात्य-साहित्य में चित्रित Neo Platonie सौन्दर्य-चित्रों की मात्रा हमारे काव्य-कानन में भी उद्भासित हुई। अँगरेज़ी का सुप्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि शेली (Shelley) अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के पहले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसकी सम्मति में जो ज्ञानालोक सुन्दर और अमर है, उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है। मानवात्मा नारी-रूप की उपासना कर ही, क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य के दर्शन करने में सफल-मनोरथ हो सकती है। शेली के 'प्रोमीथियस' के लिए 'Asia' उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है :

"Asia thou light of life.
Shadow of beauty unbeheld;"

इसी की प्रतिमूर्तिमय भावना से पूर्ण सौन्दर्य-चित्र

छायावाद के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पन्त की तूलिका से चित्रित हुआ है। कवि की प्रेयसी कवि की आत्मा को प्रकाशित करनेवाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं; किन्तु प्रकृति की दुलारी नैसर्गिक रूप की रानी है :

अरुण अधरों का पल्लव-प्रात मोतियों-सा हिलता हिम-हास ;
इन्द्रधनुषी-पट से ढक गात बाल-विद्युत् का पावस-लास ;
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अङ्गों का मधु मास ;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

पंतजी का उपरि-लिखित कवितांश पथ-भ्रांत नवयुवक छायावादी कवियों के आदर्श-रूप में रखने के योग्य है। यदि मानव का हृदय वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन करना चाहे तो वह इस भौतिकता से परिपूर्ण विश्व के कोलाहल से दूर प्रकृति की शृंगार-शाला में जाये। Georg Whithers इसी प्रकार अपनी प्रियतमा को प्रकृति-प्रदत्त आभूषणों से सुशोभित कर वासना-लोलुप कवि-समुदाय के सामने लाये थे :

Her cheeks were like the cherry,
Her skin was white as snow.
When she was blithe and merry
She angel-like did show.

पंतजी ने 'चाँदनी', 'छाया', 'वीचिविलास', 'अप्सरा' इत्यादि कविताओं में नारी-सौन्दर्य की कल्पना तो की है ; किन्तु वह उतनी सजीव, सर्वांग तथा स्पन्दनशील नहीं हो सकी, जितनी 'निराला' जी की 'शरत्-पूर्णिमा की बिदाई', 'संध्या-सुन्दरी', 'कविता', 'शेफालिका' और 'जूही की कली' में हो गई है। इन कविताओं में कवि, पंतजी के समान किसी नारी का प्रतिबिम्ब नहीं देखता, वरन् कविता को ही नारी समझ लेता है :

शिला-खंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था—
मुक्त बन्ध संध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था ;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छू कर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

—निराला

इन सौन्दर्य-चित्रों में न तो कामुकता का विकार-चित्र है, और न उद्दीपन की दृष्टि से किया हुआ काव्य-परम्परा-प्रणाली के अनुमोदन का प्रयास। उनमें जीवन है, आंतरिक व सौन्दर्य की स्पन्दनशीलता है ; किन्तु अभी

काव्य-साधना की वह प्रस्फुटित ज्योति नहीं, जो अपनी प्रेयसी के प्रति कवि-हृदय से कहला लेती है :

'तुमि मोर जीवन-मरण
बांधिया छो दु-टि बाहु दिया।'—रवीन्द्र

और न अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे परिपूर्ण होकर कवि अपनी प्रेयसि को अपने ही आनंद के स्वर्गीय प्रकाश से समावेष्टित देखता है—

Thou art folded, thou art lying,
In the light which is undying
Of thine own joy, and heaven's smile divine.
—*Shelley.*

छायावाद के काव्य में नारी-सौंदर्य के कलात्मक तथा संयमित चित्र के अतिरिक्त पंकिल चित्र भी हैं। ऐसे चित्रकारों को 'रवीन्द्र' की 'उर्वशी' नाम्नी कविता की पंक्तियाँ पढ़ लेनी चाहिए। 'उर्वशी' में 'वीरांगना-सौन्दर्य' का चित्र खींचा है ; किन्तु तो भी वह कितना निर्मल एवं संयमित है। साथ ही उनको जर्मन दार्शनिक 'कैन्ट' की निम्नांकित सौन्दर्य की परिभाषा भी हृदय में धारण कर लेनी चाहिए :

Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and practical advantages pleases and

in its objective meaning it is a form of an object suitable for its purpose in so far as that object is perceived without any conception of utility.'

नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु-सौन्दर्य भी कवियों की तूलिका का विषय रहा है। शेक्सपियर का 'आर्थर' जो निर्दय वधिक के हृदय में भी पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, तथा कालिदास का 'सर्वदमन' जो दुष्यंत के निराश-हृदय में आशा का प्रकाश फैला देता है—शिशु-सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं। सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम-विषयक शिशु-सौन्दर्य-चित्र छायावाद के अंचल में नहीं आये। अकेले पंत में ही इसकी कुछ झलक देखते हैं; किन्तु वह क्षीण-सी, नहीं के बराबर ही है।

प्रेम

सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। किन्तु सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी। आधुनिक छायावाद के काव्य में नवयुवक कवियों की चंचल तूलिका प्रेम के जो चित्र अंकित कर रही है, वे वास्तविक प्रेम के नहीं; किन्तु

उद्दाम शारीरिक वासना के अशांत नग्न चित्र हैं। उनका अपना नया आदर्श है—'अतृप्ति कवि का जीवन-संगीत है। कोई प्रेम करके शांति चाहे तो, मनुष्य-जीवन, प्रेम और शांति ये तीनों चीज़ें साथ नहीं रह सकतीं।' किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह प्रेम नहीं, वासना का प्रचंड ताण्डव है, मोह का पंकिल क्षेत्र है। प्रेम जीवन की मूलप्रेरक शक्ति है। प्राणी की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। जैसा कि ऊपर वर्णित हो चुका, सौन्दर्य की भावना पर ही प्रेम का आधार है। अतः सौन्दर्य की भावना कलुषित हो जाने पर प्रेम की भावना भी कलुषित हो गई है। इस स्थल पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक भाव (Idea) स्थिर कर देना विशेष उपयुक्त होगा, जिसके प्रकाश में नवयुवक कवि अपनी मोह-वासना-पूरित अंधकार-कारा से मुक्त हो जायें—

'The deeper the mind penetrates into the facts of aesthetics, the more they are perceived to be based upon an ideal identity between the mind itself and things. At a certain point the harmony becomes complete and the finality so close that it gives us actual emo-

tion. The beautiful then becomes sublime, and for a passing flash, the soul rises into the true mystic state and touches the "Absolute."

—*E. Recijac.*

ऐसे सौन्दर्य की भावना ही प्रेम की उत्कृष्ट भावना का प्रत्यक्ष कारण है। सान्निध्य की ऐसी ही अवस्था का निर्देश Wordsworth निम्न-लिखित पंक्तियों में इस प्रकार करता है :

'Ah ! then if mine had been the painter's hand,
To express what then I saw, and add the gleam,
The light that never was, on sea or land,
The consecration, and the poet's dream.'

छायावाद के काव्य में प्रेम के कुछ ऐसे निर्मल चित्र भी हैं, जो संसार के किसी भी प्रेम-चित्र से समानता स्थापित करने के योग्य हैं। कवि ने अपने आपको प्रेमिका के योग्य उपासक बनाने के लिए, प्रेम की आंतरिक जलन में रक्त-मांस के विकारों को जला दिया है :

जो कुछ कालिमा भरी है इस रक्त-मांस में मेरे ;
यह जलन जला देगी जब मैं योग्य बनूँगा तेरे।

प्रेम की पवित्रता पर एक बार वासना का अधिकार हो चला था। कवि का भोला हृदय पीड़ित हो गया :

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार ;
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय, क्या गंगा-जल की धार,

प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम शारीरिक आकर्षण, अशान्ति, उद्वेगपूर्ण वासना का आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से परिप्लुत हो जाता है, एक करुण-क्रन्दन उसकी निःश्वासों पर चढ़कर वायु में मिल जाता है :

प्रणय की महिमा का मधु-मोद ; नवल सुषमा का सरल विनोद ।
विश्व-गरिमा का जो था सार ; हुआ वह लघिमा का व्यापार ॥
—'प्रसाद'

नवयुवक सुकुमार कवि के हृदय में अज्ञात पर प्रेम की तीव्र अनुभूति की उद्भावना हुई ; भावावेश में कवि अपने को सँभाल नहीं सकता, वह मूक होकर अपने हृदय में इधर-उधर टटोलने लगा :

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ! एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति !
× × ×   × × ×   × × ×
कौन हो तुम उर के भीतर बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?
—पंत

इसी आत्मानुभूति की तीव्रता में भावों के प्रसून कवि के हृदय से बिखर पड़ते हैं :

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिल कर अविरल शीतलता सरसाने दो ;
अपने मुख से जग-चिन्ता के श्रम-कन सद्य सुखाने दो।

प्रेम का पागल कवि अपनी प्रेमिका को इसी प्रकार बुलाता है :

तूमि रवे नीरवे हृदय मम
निबिड़ निभृत पूर्णिमा-निशीथिनी सम।
मम जीवन यौवन
मम अखिल भुवन,
तूमि भरिबे गौरवे निशीथिनी सम।
जागिबे एकाकी
तव करुन आँखि,
तव अंचल-छाया मोरे रहिबे टाकि।
मन दुःख वंदन
मम सकल स्वपन,
तूमि भरिबे सौरभ निशीथिनी सम।

—रवीन्द्र

कितनी व्यापकता है इस प्रेम में ! कितनी श्रद्धा और विश्वास है !

पंतजी की निम्नांकित पंक्तियों में प्रेम का ऐसा ही सुन्दर पावन चित्र मिलता है :

जब मेरा चिर-संचित प्यार
मुझे डुबाता है गंभीर ;
द्रोह-मदन, मद का मल मेरा धो देता है जब दृग-नीर !
तब मेरे सुख का अनुमान, क्या तू कर सकती है प्राण !

वेदना और विषाद

'Our sweetest songs are those
That tell of our saddest thoughts.'

—*Shelley.*

वेदना जीवन की मूल रागिनी है। सदैव से ही कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी वेदना से सिंचित रही है। क्रौंच-पक्षी की अंतस्तल की करुण-निःश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि-कवि ने प्रथम कविता-कामिनी को पार्थिव संसार में अवतीर्ण किया था। यूरोप के मनीषी-कवि दांते की प्रेयसि इस अनंत रूपात्मक संसार को छोड़कर उस अनंत लोक की निवासिनी बन गई, उसी क्षण से दांते की आत्मा कविता का सवाक् चित्र बन गई। उसने आहों की भीषण प्रज्वलन से आहत होकर यूरोप के काव्य-साहित्य में भीषण बवंडर स्थापित कर दिया। सारा यूरोप अपनी सजल नेत्रों की छलछल में तथा अतल-स्पर्शी निःश्वासों में कहता था—'Whitis ! you are in

Eliseum ! ! But restore me myself and my soul.' संसार के अद्वितीय उपन्यासकार Victor Hugo का चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी, एक मधुर टीस-सी क्यों मचाने लगता है ? कारण वही कि Hugo ने मानव-जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा कलकल-ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाध गति से मानवात्मा की करुणा-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है ; एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तप्त उसासें निकालता है :

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय, रो !

—पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विश्रृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके ;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं !

—'निराला'

इसी प्रकार की करुणा-सिसकियों में Shelley का हृदय फूट पड़ता है :

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुखी-हृदय को, अपने चारों ओर सुख का स्रोत बहता देख, अपना अभाव और भी वेदना-प्रद हो जाता है :

मधुमालतियाँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे॥

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है। इसी निराशा से कवि-हृदय भार-स्वरूप बन जाता है, वह विवशता में बँधकर व्याकुल हो रो उठता है :

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ।

—रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से निरन्तर निराशा का क्षेत्र

विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति-द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रांत हो जाता है :

नहीं सहा जाता अब तो देवि,
असफलता का यह भीषण भार
—भगवतीचरण वर्मा

महाकवि शेली भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दबा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य बनकर प्रलाप ही नहीं किया करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है :

Oh lift me as a wave a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I bleed !
—*Shelley.*

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध देती है। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है; पर दुःख सबको बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीव को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलबिंदु समुद्र में मिल जाता है——यही कवि की निर्वाण-प्राप्ति है। व्यक्तिगत

सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है ; किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व। दुःख के इस सिद्धान्त की अन्वेषक श्रीमहादेवी वर्मा इसी भाव को निम्न-पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं :

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का ;
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

दुःख की उपयोगिता उनके भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख के पक्ष को प्रबल सिद्ध करने में सुख के प्रति उनके हृदय में लघुता और निष्प्रयोजनीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं :

सुख आता श्वासों के पग धर
रुद्ध हृदय-पट लेता कर
गर्वित कहता मैं मधु हूँ मुझसे पतझड़ का क्या नाता।

पंतजी के हृदय से भी दुःख के प्रति बड़े ही मार्मिक उद्गार उद्भूत हुए हैं :

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन ;
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन ।
अपनी डाली के काँटे नहीं बेधते अपना तन ,
सोने-सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन ।

Gray भी इसी प्रकार पंतजी के साथ स्वर में स्वर मिलाता है—जब वह अपने अनुभव को निम्न-शब्दों में चित्रित कर देता है :

Sorrow, the Tamer of the human breast !

किसी-किसी कवि को तो सुख से इतनी घृणा तथा दुःख से इतना प्रेम हो गया है कि वे उसको हृदय के कुंज में मृग-छौना-सा पालते हैं :

मेरा दुख हत्यारे जग का बन जाये न खिलौना-सा ;
इस भय से उर के कुंजों में छिपा रखा मृग-छौना-सा ।

इस प्रकार आधुनिक काव्य-साहित्य में छायावादी कवियों ने विषाद और वेदना का जो अबाध-स्रोत बहाया है उसमें अन्य विषय पूर्णतया डूब-से गये हैं । कवि-सम्राट् Shakespeare के शब्दों में वे अश्रु के टलमल-नृत्य को हास के मधुर लास से अधिक मनोहर मानते हैं :

'A Beauty's tears are lovelier than her smiles.'

वेदना, विषाद, करुणा, आँसू की अनुभूति में इस काल

में जो कलात्मक चित्र अंकित किये गये हैं, वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य रत्न-लड़ियाँ हैं। करुणा के व्यापक प्रभाव को दृष्टि में रखकर पंतजी का कवि आर्द्र-वाणी में कह उठता है :

आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन

× × ×   × × ×   × × ×

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग-जीवन का बन।
करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन-कण।

'प्रसाद'जी की करुणा तो उनकी सर्वस्व है। 'निराला'जी के करुणा-चित्र कोमल और सुकुमार नहीं ; किन्तु उनमें एक आह-सी, एक मौन-वेदना-सी कुछ सजीव टीस है, जो बरबस करुणा से आँखें सजल कर देती है। 'भारत की विधवा' और 'भिक्षुक' में उनकी स्वर-लहरी के शब्द-शब्द में, तार-तार में करुणा इस प्रकार घुली पड़ी है कि वह उसकी आत्मा, उसकी ताल बन गई है। 'भारत की विधवा' की निम्न-पंक्तियों में कितना करुणा-प्रवाह है :

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन

× × ×   × × ×   × × ×

वह टूटी हुई लता-सी छुटी दीन
× × × × × × × × ×
उस सरिता की करुणा की मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
दुख रूखे-सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में—
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।
—निराला

जीवन और जगत्

No man ever was yet a great poet, without being at the same time a profound philosopher of life.

—*Coleridge.*

अमेरिका के प्रसिद्ध कवि Walt Whitman ने एक बार कवि-कर्त्तव्य के सम्बन्ध में लिखा था—उसका जन्म-स्थान आत्मा है; अत: जिस रचना का सर्वस्व आत्मा नहीं, वह कविता नहीं। कवि न तो सदुपदेश देता है, और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना आत्म-गौरव समझता है। इस आत्म-

गौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है। इस प्रकार कवि जगत् और जीवन का एक बड़ा उत्तरदायी समालोचक है। अपने अनुभव से, भावना से, कल्पना से वह जगत् और जीवन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालता है। जीवन के सभी पक्षों की अनुभूति के निमित्त अपने हृदय को वह खुला रखता है। जीवन के प्रत्येक तत्त्व में, प्रत्येक मनोविकार में वह घुसकर उसके एक-एक कण को टटोलता है, और अन्त में अपनी साधना से सन्तुष्ट होकर उसके चित्र खींचता है।

हिन्दी के छायावादी कवियों की दृष्टि भी पर्याप्त रूप में जीवन और जगत् की समस्याओं पर गई है। फल-स्वरूप अनेक ऐसे मुक्तक प्रकट हुए हैं जो साहित्य की 'स्थायी सम्पत्ति' में सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।

जीवन सुख-दुख, हास विषाद, प्रेम-घृणा की आँख-मिचौनी है। न तो जीवन पूर्णतया सुख ही है और न पूर्णतया दुख ही। सुख-दुख जीवन-पक्षी के दो पंख हैं जिनसे वह इस अनन्त विश्व में साधनारत होकर जीवन के, आत्मा के सत्य को खोजता फिरता है। कविवर पंतजी इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि औ शशि में ओझल हो घन।

यदि जीवन में प्रत्येक पक्ष में, प्रत्येक स्थिति में उल्लास की ही सुधा-स्राविणी रागिनी बजती रहेगी, अथवा जीवन के पग-पग पर दुःख के अश्रु ही बिखरा करेंगे—तो वह जीवन भी एक भार-स्वरूप हो जायगा :

अपने मधु में लिपटा पर कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन।

—पंत

'प्रसाद' जी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है :

लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे ;
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती-कुञ्ज में जैसे।

महादेवी वर्मा जीवन को हर्ष-प्रधान अथवा हर्ष और विषाद का सम्मिलन मानने की अपेक्षा उसे वेदना-प्रधान मानती हैं। अपने इस सिद्धान्त में वे तथागत भगवान् बुद्ध के दर्शन से प्रभावित हुई प्रतीत होती हैं। भगवान् बुद्ध की भाँति वे संसार की उत्पत्ति को ही दुःख मानती हैं—सभी वस्तुओं में वे उस अनन्त विषाद का ही प्रतिबिम्ब देखती हैं :

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द ;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

'प्रसाद' का कवि-हृदय जीवन की नश्वरता तथा क्षण-भंगुरता का ध्यान कर ही विकल मुख फेर लेता है :

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की ;
मकरन्द-भरी खिल जावें, तोड़ी जावें बे-मन की ।

'हम जीवन को साररूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार-रूप में नहीं ।' क्योंकि संसार के सुख-दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति उसके जीवन से एक भिन्न वस्तु हैं ; जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है :

अस्थिर जीवन का सुख-दुख, जीवन ही सत्य, चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन ।

आधुनिक छायावादी कवियों का वैराग्य में अथवा जगत् के कार्य-क्रम से उदासीनता में विश्वास नहीं ; वरन् कर्म में विश्वास है । मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बंधनों में उनकी अधिक आस्था है :

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिरगूढ़ सरलपन ;
है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर, कठिन मुक्ति का बंधन ।

इसी प्रकार का भाव कवीन्द्र रवीन्द्र की 'स्वर्ग से बिदा' में मिलता है। इसी प्रकार अँगरेज़ी का प्रसिद्ध विचारक कवि Browning अपने Rephan नामक काव्य में अपने हृदय की वृत्तियों को चित्रित करता है। वह स्वर्ग के सुख से ऊब गया, स्वर्ग के अस्तित्व में ग्लानि का भाव उदित हुआ, वह पार्थिव-जगत् के लिए व्याकुल हो गया :

I yearned for no sameness but difference
In thing and thing.

×× ××

Thou art past, Rephan,
Thy place to earth.

श्रीमती महादेवी वर्मा भी इसी प्रकार अपनी रागिनी गाती हैं :

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !
मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर,

कर्म-योग में विश्वास के साथ कवियों को फल की आकांक्षा नहीं। उनका सिद्धांत है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' निम्न-पंक्तियों में यही भाव है :

इस अचल क्षितिज-रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के ;
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके।

—महादेवी वर्मा

उठ-उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें ;
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें ।

—पंत

इन साधना-शील तथा पार्थिव-प्रिय हृदयों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन कवियों की भी है जो संसार की ज्वाला से, वेदना-पूर्ण स्थिति से व्याकुल होकर एक नये ही लोक में जाना चाहते हैं :

हमें जाना है जग के पार—जहाँ नयनों से नयन मिलें ;
ज्योति के रूप सहस्र खिलें, सदा ही बहती नव रस-धार ;
वहीं जाना इस जग के पार ।

—'निराला'

एक श्रेणी के कवियों के हृदय में संसार की इस अशान्ति, उद्वेग, विश्रृंखलता के प्रति क्रोध का एक बवंडर छिपा पड़ा है। वे संसार का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। अपनी वेदना-पूर्ण स्थिति से वे इतने क्रोधित हैं कि शेष संसार की उनको कुछ चिन्ता ही नहीं। वे प्रलय को निमंत्रित करते हैं :

गगन पर घिरो मंडलाकार ! अवनि पर गिरो वज्रसम आज !
गरज कर भरो रुद्र हुंकार, यहाँ पर करो नाश का साज !

—भगवतीचरण वर्मा

प्रकृति

आधुनिक छायावादी हिन्दी-कवियों ने प्रकृति की गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही कलापूर्ण दृश्य-चित्रण किया है। जिस प्रकार अँगरेज़ी की Romantic कविता ने विगत प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें अमर-सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के संश्लिष्ट चित्र अंकित किए हैं, उसी प्रकार वर्तमान छायावाद की धारा के कवियों ने भी शेली के स्वर-में-स्वर मिलाकर गाया है :

'I sang of the dancing stars,
I sang of the daedal earth;
And of heaven—and the giant wars,
And Love, and Death, and Birth'

हिन्दी-साहित्य का प्रकृति का सलोना शिशु कवि भी प्रकृति से इसी प्रकार मधुरालाप करता है :

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि, तुम्हारे मीठे-मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ कुछ मधु-पान।

फिर तो प्रकृति का वह इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है, उसी में मिल जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो :

विजन-वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान ?
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने-सा गान ।—पंत

पंतजी ने 'बादल,' 'चाँदनी,' नौका-विहार,' 'एक तारा,' 'छाया'-शीपर्क कविता में प्रकृति के बड़े ही संश्लिष्ट चित्र निर्माण किये हैं, जिन पर हिन्दी को गर्व और गौरव है। 'निराला'जी की 'जूही की कली,' 'संध्या-सुन्दरी,' 'शेफालिका' तथा 'यमुना के प्रति' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण-चातुरी की जिस अद्वितीय प्रतिमा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी के लिए एक सौभाग्य की वस्तु है तथा उससे निर्मित चित्र संसार की किसी भी उच्च कला एवं साहित्य के सम्मुख रक्खे जा सकते हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', 'प्रथमवर्षा,' 'मधुवन का माली' कविताओं में प्रकृति के मर्मों का मननशील रहस्योद्‌घाटन है—

वह सरिता की कलित-ललित गति,
सागर का फेनिल कल्लोल;
उपवन की वह मृदु मादकता,
कानन का मर्मर हिल्लोल!

मधु आसव से गंध-विधुर वह
मलयानिल का मदिरोल्लास,
उच्छल-फेनिल - जलधि-विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास।

भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद के द्वारा प्राचीन परम्परा के प्रति क्रांति और विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हुई। इसका स्पष्ट स्वरूप काव्य-शैली के कलेवर में देखा जा सकता है। प्रबंध-काव्य की परम्परा अतल उदासीनता में डूब-सी गई है तथा उसके स्थान पर गीति-काव्य का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' ने सर्वप्रथम बँगला-साहित्य और अँगरेज़ी-साहित्य की गीति कला से प्रभावित होकर हिन्दी-काव्य-साहित्य में उसका श्रीगणेश किया। तत्पश्चात् समस्त काव्य-साहित्य में एक ऐसी लहर आलोड़ित हो उठी कि उसमें समस्त अन्य शैलियाँ मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठीं तथा गीति-काव्य-कला ही आधुनिक कविता की मुख्य धारा रह गई। गीति काव्य का नेतृत्व आजकल श्रीमहादेवीजी के हाथ में है; उनके गीतों की मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है।

कालिदास और तुलसी की शब्द-चित्र-कला अतीत के गर्भ में विलीन होकर नष्ट-सी हो गई थी। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि के निमित्त ही शब्दों का प्रयोग होता था; किन्तु छायावाद की धारा के साथ कुशल चित्रकारों का

भी हमारे काव्य-साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। Shelley का आंतरिक चित्र-निर्माण पंत का मुख्य विषय बन गया। उन्होंने मुद्रा, स्थिति तथा भाव-भंगिमाओं का ऐसा चित्रण किया कि जो स्वयं बोलकर विना अर्थ के ही अपना स्वरूप स्पष्ट कर देता है :

'गहरे, धुँधले, धुले, साँवले, मेघों से मेरे भरे नयन।'

'निराला' के शब्द-चित्र तो हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। वस्तुओं के अंतराल तथा बाह्य-स्थिति का उनका प्रत्यक्ष-दर्शन एवं शिल्प-कौशल उनके चित्रों को चेतन-जैसा सवाक, सप्राण तथा सरल बना देता है :

सोती थी सुहाग-भरी स्नेह स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में,

—निराला

पुराने छंदों को जो कि व्रजभाषा के ही विशेष उपयुक्त पड़ते थे; बहिष्कृत कर उनके भग्नावशेष नए-नए छंदों की उद्भावना की। कवियों ने विरोध की भीषणता में भी अपने आंदोलन को गतिशील रक्खा है। नवीन छंदों के साथ-साथ मुक्तक-छंद भी हमारे काव्य-कानन में गूँजने लगे। इनका सूत्रपात एवं समर्थन 'निराला' जी ने किया।

उन्होंने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ीं, जिनसे कविता की स्वच्छंद गति बँध-सी गई थी।

कल्पना-शक्ति अधिक सरस एवं विस्तृत हो गई, साथ-ही-साथ कविता-कला संगीतकला के साथ एकाकार होकर मधुरता की मूर्ति बन गई। भारतीय संगीत के साथ-साथ बँगला, अँगरेज़ी-संगीत का भी हमारी काव्य-कला पर रंग चढ़ गया। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी-काव्य-अप्सरा अपने बंधनों से मुक्त होकर, विविध शृंगार से युक्त होकर, नूपुरों की मंजुल-ध्वनि करती तथा अपने कल-कंठ से जगत् पर माधुरी-कण बरसाती विश्व-साहित्य-प्रांगण में उतर पड़ी है।

काव्य में वेदना-माधुर्य

सत्य आत्मा की सनातन ज्योति है। प्रलयकाल में अनादि वृक्ष के पत्तों पर शयित शिशु ने एक सक्रिय अनुभूति का स्पर्श किया—वह एक दिव्य एवं अमर आलोक की रश्मि-रेखा थी, वह सत्य की शाश्वत स्पंदन-लहरी थी। उसे पाकर उस वृक्ष की सूखी नसों में संजीवन की साँस जग उठी, किसलय की क्रोड़ इस दिव्य द्युति को अपने भीतर भरने के लिए आकुल हो उठी। बस फिर शाश्वत-पदों से पहले सृजन आया, फिर विकास की प्यास।

सृष्टि-क्रम में, जन्म-मरण, अश्रु-हास, मिलन-विरह की सीमा में घिरा हुआ प्राणी पृथ्वी के धरातल से उठा और अपनी मानवीय अपूर्णता से पूर्णता की ओर उठने का पवित्र प्रयत्न करने लगा। यह मानवता की सत्य ही

एक पूर्णता है। इसी पूर्णता की खोज में मनुष्य अनन्त काल से अपने जीवन के सफल-असफल व्यापारों में लीन है—यही कला की कल्लोलिनी है, साहित्य का स्रोत है और संगीत की स्वर-लहरी का प्राण है। इसी सत्य में अनश्वरता और चिदानंद के प्राण समाए रहते हैं, जिसको छूकर वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास अमर हो गए।

कलाकार की साध्य परिणति इसी प्रकार कथा के छूने पर होती है। साहित्य में सत्य की यही संजीवनी सम्मान्य होती है, क्योंकि प्रत्येक कला की सुन्दर कल्पना इसी अलौकिक स्पर्श से जीवित हो पाती है। कला के किसी क्षेत्र में हमें इस 'पारस' की आवश्यकता है, क्योंकि श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में इस 'पारस' के स्पर्श से सब कुछ सोना हो जाता है—'एक पागल से चित्रकार को जब फटा काग़ज़, टूटी तूलिका और धब्बे डाल देनेवाला रंग मिल जाता है तब क्षण भर में वह निर्जीव काग़ज़ जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है, रेखाओं में जीवन प्रतिबिंबित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं, रोते हैं और उसे मानवीय संबंधों से बाँध रखना चाहते हैं'।

हमारा हिंदी-काव्य-साहित्य भी इसी 'पारस' सत्य की

समीपता प्राप्त करने का सफल प्रयत्न कर रहा है। अनेक कवि, लेखक तथा गायक अपनी कला की साधना को साथ लिए इसी पथ का अनुसरण कर रहे हैं। आधुनिक काल में श्रीमती महादेवी वर्मा इन पथिकों में सर्वाधिक सफल हैं। उनकी काव्य-साधना उनके हृदय के अध्यात्म की एक गंभीर, अतल-प्रवासी अनुभूति है, क्योंकि उन्होंने सांध्यगीत की भूमिका में लिखा है—'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरांत, भाव के संस्कारमात्र से मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्तक्रंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है, जिसमें संयम का नितांत अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है, जिससे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निश्वास में भी है जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक

को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है, जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक को दीर्घनिःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके बाह्य राजरानीपन और आंतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अतः उसका 'हेरी, मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना को स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनके इस उपर्युक्त विवेचन से हम इस निश्चय पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा, वह उनके हृदय की अमर अभिव्यक्ति है, जो मानवीय-सीमा के अंतिम पद पर पहुँच चुकी है, और यहाँ से

देवत्व के उस अनंत तथा अलौकिक प्रकाश की सुदूर प्रसारित किरणों में से अपनी ज्ञातव्य और ग्राह्य किरण का स्पर्श एवं चयन कर चुकी है और उन्होंने अपनी कला के पावन 'पारस' से लौकिकता की अपूर्णता को पूर्णता के पथ पर पहुँचा दिया है :

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या, कैसी बाधा !

आकुलता की चिर-तन्मय ज्योति जगाकर वे जीवन के दिव्य सत्य की झलक देख चुकीं—उनके अंतस्तल की करुण पुकार ही आज राधा बनकर अपने चिर-सत्य—मोहन की स्मृति द्योतित कर रही है। विरह के अश्रु-सजल-क्षण आज अपने दिव्य अराध्य के साथ एकाकार हो गए, फिर जीव और ब्रह्म क्या ? माया और ब्रह्म क्या ? जीवन क्या ? और मरण क्या ? अश्रु-हास, अमा-पूर्णिमा, आलोक-अंधकार—सब स्वैरैक्य का शाश्वत स्वरूप बन गए। यही सत्य की परम ज्योति है—मानव-जीवन की अमर साधना की पुनीत परिणति है ! उपनिषदों के मनीषी ऋषियों ने सत्य की खोज में अपने जीवन को पुनीत बनाया था, उन्हीं के दिव्य अनुभवों और पुनीत पद-चिन्हों पर महादेवीजी की साधना का दिव्य-दीपक समुज्ज्वल

है। उपनिषदों के मतानुसार पार्थिव की ससीमता और अपार्थिव की असीमता के विस्तृत आवरण में स्थित जड़-चेतन के निरंतर परिवर्तन तथा पूर्णता की चिरंतन प्रवृत्ति में सामंजस्य की स्थापना ही सत्य के सहज ज्योतिर्मय स्वरूप का अस्तित्व है। महादेवीजी इसी पथ की अचल पथिक हैं। इस समन्वय का जैसा उज्ज्वल एवं कल्याणकारी स्वरूप उनकी साधना में आलोकित है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है :

सेतु शूलों का बना बाँधा विरह-वारीश का जल ;
फूल-सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल ;
दुःखमय सुख, सुख भरा दुख
कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल जल का देश देते ?

अथवा—विरह की घड़ियाँ हुईं, अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी !
सजनि ! अंतर्हित हुआ है 'आज' में धुँधला विफल 'कल';
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल ;
राह मेरी देखती स्मृति अब निराश पुजारिनी-सी !

आधुनिक हिन्दी-काव्य-वीणा से अश्रु तरल वेदना का गीला गान ही निःसृत हो रहा है। 'पंत' और 'प्रसाद' के अंतर्लोक वेदना की चिरंतन निर्झरिणी से ही कल्लोलित हैं। विरह-व्यथा की तरल लड़ियाँ करुणा की मूर्ति बनकर

'प्रसाद' के भावलोक को अधिव्याप्त कर रही हैं। 'प्रिय' से उपेक्षित एवं अनपेक्षित प्रेम के प्रतिदान का अभाव कवि की साँस-साँस में जीवन की आकुलता आलोड़ित कर गया है। 'प्रसाद' का कवि-चातक अधीर हो उठता है :

चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर, वह कौन अकिंचन अति आतुर ?
अत्यंत तिरस्कृत अर्थ सदृश ध्वनि कंपित करता बार-बार,
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार !

जीवन की पलकों पर सूने क्षणों का अज्ञात और असह्य भार प्रस्थित हो जाता है—एकाकीपन की आक्रांतव्यथा शून्य के क्षितिज से उतरकर जीवन के मुकुल को भाराच्छन्न करने लगती है। जीवन का गतिमय सरल सहज प्रवाह सहसा अवरुद्ध होकर फूट पड़ता है :

कब तक और अकेले ? कह दो हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत अपनी निधि न व्यर्थ खोलो ?
—'प्रसाद'

कितनी तिमिरमयी निराशा ! कितना विवश-अवश उद्गार ! ज्वाला को आँसू से बुझाकर धूम्र का कितना घनीभूत वाष्पीय विस्फोटन ! मानवहृदय की इस परिव्याप्त प्लुति के पश्चात् उद्बोधन का पुनीत पवन चलता है और कवि का मानस अपने विस्मृत और विगत अतीत की गोद में सहज शिशु की भाँति अपना सजल मुख छिपा लेता है :

अब जागो जीवन के प्रभात !
वसुधा पर ओस बने बिखरे, हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात, अब जागो जीवन के प्रभात !

अथवा—वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !
जब सावन-घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे।
वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !

'प्रसाद' की इस भारान्वित व्यथा से क्षणिक त्राण पाने का दूसरा शरणस्थल अपने 'प्राणप्रिय' का सतत आवाहन और उसके दिव्यागमन की मनुहारमयी प्रतीक्षा है :

मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे !
खिंच जाय अधर पर वह रेखा जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे !

इसके अतिरिक्त उनकी एक और परित्राण पर्णिका है, वह है संसारचक्र के परिवर्तनमय क्रम की चरम सत्यता पर परम आस्था। सुख-दुख जीवन की चिरंतन नवीनतामयी सुरम्य आँखमिचौनी है :

चिर वसंत का वह उद्गम है, पतझर होता एक ओर है,
अमृत-हलाहल यहाँ मिले हैं, सुख-दुख बँधते एक डोर हैं।
—'कामायनी'

'प्रसाद'जी की वेदना में आश्रय की आशा है, उनके आँसू में भविष्य के गर्भ में छिपी उल्लास राशि की

प्रत्याशित छाया है, उनके निश्वासों में अभावपूर्ति का एक मंगलमय दिव्य संदेश है । किंतु—–

महादेवीजी का कवि पार्थिव जीवन की नश्वर क्षणभंगुर आशास्फुलिंग की टिमटिमाती क्षीण प्रकाशरेखा पर विश्रामस्थ नहीं होता । उन्हें हास अश्रु की चिर-परिवर्तनमयी माया की उलझन और भी पीड़ाप्रद अनुभव होती है । उन्होंने कण-कण में अनुप्राणित सत्य को और भी आगे चलकर समझा है ! सुख की गोद में दुख और दुख की छाया में सुख की स्मृति–—इसी में तो द्वैत की बाधा निहित है । वे जीवन के सत्य के इस प्रथम सोपान से और ऊपर के सोपान पर पहुँच जाती हैं जहाँ सुख-दुख अपनी स्वतंत्र विलग सत्ता का परित्याग कर एकाकार हो जाते हैं—–द्वैत अद्वैत हो जाता है । इसी दिव्य समन्वय में सत्य की परम ज्योति उद्भासित हो रही है ।

सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति इसी पार्थिव सत्ता के प्रवर्त्तन क्षेत्र में, इसी जीवनगति के शाश्वत प्रवाह में होती है, जो कि अपनी अचल साधना में चरम परिधि के सीमित क्षेत्र को पार कर जाता है, और इसी कारण अनंत अनिर्वाच्य तत्त्व का मधुर निर्देश करता है । जड़ चेतन के व्यष्टि-रूपात्मक अनिवार्य एवं अपरिहार्य तत्त्वों की समष्टि

का लयक्षण ही परम जीवन है और इसीलिए सत्य है। इसी दिव्य सत्य की स्वर्ण आभा छूकर महादेवीजी का प्रशांत कवि कह पड़ता है :

क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन !
बन गया तमसिंधु का आलोक सतरंगी पुलिन-सा
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत का मलिन-सा
स्मृति-पटल पर कर रहा अब वह स्वयं निज रूप अंकन !

किंतु विषमताओं की आत्मसात् परिणति और भी भास्वर एवं परिपूर्ण हो जाती है :

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती ;
मृत्यु जागृति के पुलिन दो आज जागृति एक करती ;
हो गया अब दूत प्रिय का प्राण का संदेश, स्पंदन !

किंतु यहीं तक उनकी भावना का प्रवाह संतुष्ट हो निश्चेष्ट नहीं हो जाता। वे जीवन के गहनतम प्रकाश को और भी सृष्टि-समष्टि रूप में देखती हैं :

दमकी दिगंत के अधरों पर स्मित की रेखा-सी क्षितिज कोर,
आ गये एक क्षण में समीप आलोक तिमिर के दूर छोर,
घुल गया अश्रु में अरुण हास हो गई हार में जय विलीन !

इस निरामय स्थिति में न आशा की मृगमरीचिका की क्षणिक तृप्ति में छिपी निराशा की प्रच्छन्न निर्धूम ज्वाला

का अस्तित्व है और न निराशा की अश्रुप्लाविनी के अंतराल में अचिर उल्लास का चिर करुण अहमिति का अमर निवास ! यहाँ स्वीय पूर्णता है, अभाव और अनभाव के इस दिव्य एकात्म ही में 'आनंद' है—यहाँ पहुँचकर 'प्रियतम' का वियोग कैसा ? यहाँ 'महामिलन' का चिदानंदमय सजल प्रसाद है, जिसके प्रमुद संस्पर्शन से प्रकृति का कण-कण एक चिर नवीन और चिर मधुर रागिनी में परिणत हो जाता है :

सजग प्रहरी से निरंतर जागते अलि रोम-निर्भर !
निमिष के बुद्बुद मिटाकर, एक रस है समय-सागर !
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले !

संसार की कण-कण निर्लयित माया की सम्मोहन लीला से अपने आत्मरूप को अपरिचित एवं अस्पर्शित रखने के लिए दार्शनिक मनीषी और आर्त भक्तगण मोक्ष अथवा मुक्ति के हेतु 'परमप्रिय' की आराधना करते हैं—स्वार्थ का कितना एक रस और जड़ीभूत तांडव ! महादेवीजी के कवि ने इससे विमुख होकर कितनी मधुर साधना का अवलंबन किया है ! उन्हें मोक्ष-मुक्ति की अभिलाषा नहीं । वे तो चाहती हैं :

आज वर दो मुक्ति आवे बंधनों की कामना ले !

इस बंधन में ही वे अपने जीवन की परम एवं चरम सार्थकता उद्भासित पाती हैं, क्योंकि इस अनोखी कारा के धूमिल वातावरण में ही उन्हें परम सत्य की चिदानंद ज्योति के दर्शन हो पाये हैं—यहाँ आकर ही वे विरोधमयी विषमताओं से ऊपर उठकर संसृति के गहन अंतराल में आच्छन्न परम सत्य के दिव्य संदेश को सुन पाई हैं :

विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल-सरीखा,
दुःख-सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा !
मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले !

विरह वेदना के अंतस्तल से उत्थित तरल हिमकण लेकर, कविवर पंतजी की काव्य-साधना भी अपना उन्मन अंचल ओढ़े परम सत्य के चिर विहान के शाश्वत आवाहन में तन्मय थी। विरह आता है कवि के हियशतदल पर तुषार भाराक्रांत मेघ बनकर, वे उसके एक ही संस्पर्शन से सिहर जाते हैं—कोमल किसलय-सा मन और तुषार की प्राणांतक हिम सजल शीतलता ! वे व्यथित होकर चीत्कार कर उठते हैं :

मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन ;

गहरे, धुँधले धुले, साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन

× ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को !

पंतजी का कवि विवश—निराशा के इस चिरंतन और अनंत प्रसारित क्रंदन से आर्तनाद कर उठा। जीवन के इस विषम ज्वालामय अभाव से उसे प्रसादजी की भाँति जीवन के 'दर्शन' में कुछ आश्वासन प्राप्त होता है। कवि से वे दार्शनिक बन जाते हैं और अनुभवों का मधुर लेपन जगती के विदग्ध घावों पर करने लगते हैं :

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद;

× × × ×

बिना दुख के सब सुख निस्सार
बिना आँसू के जीवन भार !

चाहे दुख का, उनकी साधना में अमर अस्तित्व हो; किंतु सुख की घृणामयी अवहेलना नहीं—दोनों का संभाव

से स्नेहालिंगन ही उनका चरम साध्य है, जो मानव-जीवन के लिए परमावश्यक है। व्यक्तिगतरूपेण उनकी साधना क्रियात्मक भाव से वेदना के गहन अंत:करण में मुकुलित नवल कमल की सौरभरूपी सत्य अनुभूति नहीं छू पाई और उनका प्रयत्न विफल अंतर-उद्गार में बिखर पड़ा :

मैं सीख न पाया अब तक
दुख को सुख से अपनाना !

किंतु महादेवीजी का कवि इस दृष्टि से सत्य-साधना में अधिक सफल एवं परिपूर्ण है। व्यक्तिगत विजय की अनुभूति से उनकी साधना और भी प्रदीप्त एवं उज्ज्वल हो गई है। दार्शनिक सत्यसंधानों का अननुभूत समूहजाल न तो इतना व्यापक, न इतना प्रभविष्णु एवं न इतना स्थायी ही होता है जितना व्यक्तिगत जीवन के अमर क्षणों की दिव्य अनुभूतियों से नि:सृत मधुर प्रवाह। इसके अतिरिक्त ये दार्शनिक सूत्र विपथगामी ही बनाते हैं, और अपनी निरी संख्या और परिमाण के अतुल संभार से मानव-मन को भाराच्छन्न किया करते हैं; किन्तु व्यक्तित्व का संसार इससे कहीं अधिक विस्तृत एवं प्रकृत है। महादेवी-जी की साधना में यही विशेषता है। उन्होंने अपनी

व्यक्तिगत वेदना के एक सजल छोर को पकड़कर सर्वात्म के चिदानंदमय विषाद के उस छोर को भी करतलगत कर लिया जहाँ उनकी व्यष्टि दिव्य समष्टि का स्वीय स्वरूप बन जाती है। इस चरम अनुभूति की परिणति में, इस परम सत्य की तदाकारता में विलीन होकर महादेवीजी क्यों न अपने 'प्रियतम' की समता करें ? उस 'प्रियतम' के समग्र गुण उनमें आ गये :

उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घनश्याम में जो ;
अधर में मेरे खिला नव इंद्रधनु अभिराम जो ;
बोलता मुझमें वही जग मौन में जिसको बुलाता !

अपने ससीम व्यक्तित्व को 'प्रिय' के असीम व्यक्तित्व में लय करके उनमें कौनसा अभाव, कौनसा 'अपूर्ण' अवशेष रह गया है ? फिर क्यों वे 'प्रिय' की सदय करुणा के लिए आकुल होवें ! जिस भाँति 'प्रिय' की अधर-छलकती मुसकान में प्रकृति के नवल उल्लास का आवास है और जिस भाँति उसका क्षणिक विषाद चराचर की वेदना का उत्स स्थान है, उसी भाँति क्या उनके भावों की परिव्याप्ति संसृति के आवर्तन-परिवर्तन में नहीं ? जीवन के चपल क्षणों के अचिर देहपिंडों पर नहीं ? जीवन के अंतस्तल में निहित सत्य तो सृजनात्मक है।

'प्रिय' की सर्व-शक्ति-शालीनता की समता दिखाते हुए महादेवीजी के गर्वीले उद्गार निःसृत हो पड़ते हैं :

फैलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले;
बंदिनी बनकर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी-सी !

'बंधनों की स्वामिनी' बनकर कवि को क्यों न अपने निजत्व का मूल्य ज्ञात हो ! 'प्रिय' के मिलन-क्षण की निलयता में उनका 'निजत्व' लय हो जायगा। समता की प्रभुता का ध्यान फिर उनके सहज मुख को ऊँचा उठा देता है :

मिलन-मंदिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं !

मुक्ति और निर्वाण का संदेश लेकर 'प्रिय' वेदना की करुण प्रतिमा पर अनुकंपा प्रदर्शन करने आये हैं—पर कवि को स्मरण है कि विरह की तपसाधना से ही 'प्रिय' का आगमन संभव हुआ है। वह इस विरह के वातावरण में ही अपने 'प्रिय' को प्राप्त कर पाया है, फिर वह कैसे अपने इस परम प्रिय सहचर का परित्याग कर 'निर्वाण' की स्वर्गिक निधि के सम्मुख हाथ फैला दे ? इसी हृदय

के परमधन विरह का विनाश करने प्रिय आये हैं। कवि का आत्मसम्मान बड़े गर्व से प्रतिस्पर्धा के संभ्रांत स्वर में कह उठता है :

शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन,
विरह का इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन;
चपल पग धर,
आ अचल उर
वार देते मुक्ति, खो
निर्वाण का संदेश देते !

कवि के सरल हठीलेपन को अपनी अमित ममता से 'प्रिय' मनाते हैं, किन्तु वह अपना आत्माभिमान नहीं त्याग सकता। वह विरह की परम निधि की संरक्षा में अपने प्रिय की भी अवहेलना करने को प्रस्तुत है :

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो !
पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा !

आराध्य के प्रति आत्मभाव-भरी निजता का इतना मधुर चित्र विश्व के साहित्य की परम चित्रोपमता अनुप्राणित चित्रावली के सम्मुख अपनी महानता का उद्घोष अपनी अमरता में चिरकाल तक करता रहेगा। हिंदी-काव्य के लिए यह परम गौरव की वस्तु है, और भारत की भारतीयता की प्रलुप्त ज्योति का जो नवावतीर्ण रूप महादेवीजी की अनंत करुणा में उद्भासित हो रहा है वह आधुनिक विश्व की मोहांधता में एक अमर आलोक का सनातन प्रकाशस्तंभ है।

वेदना और विरह का इतना अधिव्यापक और सफल चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है—जीवन की क्षुद्र ससीमता में विरह के राजमार्ग पर चलकर उन्होंने जिस प्रशांत निःश्वास की परिधि में परम सत्य के दर्शन किये वह अनेक विरह-व्यथा के चित्रण करनेवाले वर्तमान एवं भावी कवियों के लिए दिव्य पथप्रदर्शक ध्रुव तारक है। उनके चित्रण में निराशा की संतप्त उच्छ्वासों का रौद्र तांडव नहीं, उनके अश्रुकणों में अस्थिपंजरों की संधियों में प्रसरण करनेवाली प्रचंड वायु का-सा हाहाकार नहीं, क्योंकि :

मैं आज चुपा आई चातक,
मैं आज सुला आई कोकिल,

कंटकित मौलश्री हरसिंगार,
रोके हैं अपने श्वास शिथिल !
सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं !

कवि के अंतराल में कितनी व्यापकता एवं गहराई से अभिभूत वेदना का प्रशांत निश्वास अधिवास करता है ! शारीरिकतामय शोक की नग्नक्रीड़ा नहीं, जो कि सतह की वस्तु है, वरन् आत्मा के चिरंतन उत्ताप की शाश्वत धूपमयी प्रज्वाल है। कितना संयत, संयमित और भाव परिमार्जित चित्रण है ! यदि आधुनिक खड़ी बोली के काव्य में भाषा को सुकोमल, सुमधुर तथा सुसंपन्न बनाने एवं उसके परिष्करण और परिमार्जन का श्रेय पंतजी को है तो भावना के सरस सजग संयम का, माधुर्यमयी कोमल संयतता तथा सप्राणता का और सुवर्णशालीनता का श्रेय महादेवीजी को है।

देवीजी के काव्य में आत्मानुभूत सत्य का दिव्यालोक केवल दर्शनशास्त्र की शुष्क उलझनों में फँसे हुए प्रकाश की तरह कोई वस्तु नहीं, साथ ही काव्यानंद के छायालोक की स्वप्ननीहारिका भी नहीं, जहाँ कभी-कभी केवल कल्पना का प्राधान्य रहता है, वरन् उनके सत्य की पुनीत

प्रभा कला के अलौकिक आनंदमय नवजीवन की प्रकाश-किरण है। वह आत्मत्याग की साधना से उपार्जित विश्वकल्याण की दीप्ति है और है जीवन तथा कला का चरम सामंजस्य। किसी ने कहा है :

'कविता पढ़ना अच्छा है। काव्यरचना करना और भी अच्छा है, पर सबसे सुंदर है काव्यमय जीवन व्यतीत करना।' अस्तु, हम कह सकते हैं कि श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य जीवनमय है और जीवन काव्यमय है। यही आत्मा का कवित्व और कला की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, इसी से उनकी कृतियाँ अपनी दिव्यता में पुनीत, अपनी ज्योति में शाश्वत और अपनी साधना में सनातन हैं, इसमें संदेह नहीं है।

साहित्योपवन में नवल लताएँ

एक समय था हमारे साहित्य-उपवन में केवल काव्य की माधवी-लताएँ ही एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक थीं। वीर-गाथा-काल से लेकर अभी तक हमारे साहित्य की भावावेशमयी प्राण-प्रवेगणी केवल काव्य की अभि-व्यंजना में ही निगूढ़ थी। हम अपने भावों को, विचारों को, आदर्शों को, सिद्धांतों को अभी तक काव्य की धारात्मक अभिव्यक्ति में ही प्रकाशित करते थे। यही कारण है कि हमारे काव्यांगों की परिभाषा एवं उदाहरण, हमारे व्याकरण के नियम एवं उपनियम, साहित्य-समा-लोचना का प्रतिपादन एवं विवेचन सभी पद्य की शृंखला में प्रबंधित रहते थे। किन्तु आज समय की गति में महान् परिवर्तन हुआ है। परिवर्तन एवं प्रत्यावर्तन की

एक ऐसी भयावनी लहर आज विश्व के धरातल पर हिल्लोलित हो उठी है कि परम्परा से प्रभूत सभी सत्ताएँ काँप रही हैं—कुछ अपने अस्तित्व में क्षीण एवं क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गई हैं और कुछ, जिनमें चिरन्तनता का सनातन सत्त्व था, अभी तक अपनी भित्ति पर आरूढ़ हैं। चाहे जिस परिस्थिति में हम हों, किन्तु परिवर्तन के प्रत्यावर्तित परिणाम से हमारा कुछ भी निरंग, निर्लिप्त एवं निःसंग नहीं रहा—हम सभी बातों में, सभी पहलुओं में, सभी अंशों में यहाँ तक कि अपनी अंतरात्मक एवं विचारात्मक भावनाओं तक में आज नवीन बन गये हैं। गद्य के प्रचलन एवं प्रचार के साथ-साथ साहित्य की प्रकाश-प्रवृत्तियों का द्वार-सा खुल गया। नवीन-नवीन प्रकार की अभिव्यंजनाएँ प्रादुर्भूत होने लगीं और हमारे साहित्य का उपवन भाँति-भाँति की नवीन लताओं से परिव्याप्त-सा हो गया। परिणाम-स्वरूप में आज हम एक परिपूर्ण उपवन में हैं—जिसमें एक ही सुमन-लता की सौरभ नहीं, वरन् अनेक प्रकार की सौन्दर्यमयी लताओं और भाँति-भाँति की कोमल-कोमल बेलियों का ललित लावण्य और प्रांजल कमनीयता भी है। इन नव-अंकुरों तथा नव-बेलियों पर एक दृष्टिपात करना आज समालोचना

के पथ में एक आवश्यक विश्राम-स्थल हो गया है। अवज्ञा की उपेक्षित दृष्टि से, उदासीनता की Dictatorial मनोवृत्ति से इनकी ओर से मुख मोड़ने का समय अब नहीं रहा—ध्यान का आकर्षण इनकी सत्ता से (चाहे वह आज इतनी छोटी और क्षणिक देखनेवाली ही क्यों न हो) कभी हटाया जा सके, या अछूता रक्खा जा सके—यह आज असम्भव हो गया है। मैंने साहित्य के सभी अंगों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, अपनी रागात्मिका कसौटी पर मैंने सबको कसा है। इस आलोचना के राजमार्ग में मैं इन नवीन प्रकार की प्रकाशवती शैलियों को देखता हूँ और देखता आया हूँ—इनकी ओर से आँखें फेर लेना आज मेरे लिए असम्भव प्रतीत होता है—इसकी कल्पना भी मेरे लिए एक ऐसी बात हो रही है, जिसको मेरा हृदय अन्याय, अत्याचार, पक्षपात या एकांगीपन कह सकता है। फलत: इन नवोदित एवं नवांकुरित बेलि-बालाओं पर मैं अपने कुछ विचार संक्षेप में प्रकट कर रहा हूँ। और साथ ही कुछ इनकी आवश्यकताएँ और इनके भावी विकास के लिए कुछ सावधानियाँ भी अपने दृष्टिकोण एवं अपनी निजी धारणा के अनुसार निर्धारित करूँगा।

गद्य के आविर्भाव के साथ-साथ सबसे उल्लेखनीय जो

भाव-व्यंजनाएँ हमारे साहित्य में आईं, उनमें गद्य-काव्य विशेष चित्ताकर्षक एवं विचारणीय है।

गद्य-काव्य

हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य का ऐतिहासिक अवतरण मूल रूप से भारतेंदु के साहित्योदय से प्रारंभ होता है। भारतेंदु ने नाटकों की मौलिक रचना की तथा बँगला-नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित करवाये—इन गद्य-कृतियों में हमें उनका कवि-रूप ही विशिष्ट प्रकाशमान प्रतीत होता है, एक मूल नाटककार का नहीं। जहाँ-जहाँ भावावेश की उद्वेलित धाराएँ बौद्धिक विचार-परिसीमा की सत्ता को अतिक्रमण कर गईं, वहाँ भारतेंदु की लेखनी से प्रसूत विचार जैसे भावना के प्लावन में डूब-से गये—उनका अस्तित्व नष्ट-सा हो गया। 'भारत-दुर्दशा-नाटक' तथा 'चन्द्रावली' नाटक के अनेक स्थल गद्य के रूप की अपेक्षा पद्य के स्वरूप के अधिक समीप पड़ते हैं—उनमें गद्य में प्रभूत मानसिक चिंतना एवं प्रचेतना (reflection) के स्थान पर काव्य की मानसिक भावात्मकता ही विशेष प्रोज्ज्वल एवं प्रतिमुखर प्रतीत होती है। यह नई प्रकार की शैली वास्तव में क्या है तथा

इसका क्षेत्र, इसका शरीर और आत्मा किन-किन मूल-तत्त्वों से निर्मित है आदि पर विचार प्रकट करना (गद्य-काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का विवेचन करने से प्रथम) एक परमावश्यक और विशेष विचार करने योग्य समस्या है ।

गद्य-काव्य अपनी सम्पूर्णता में कला के दृष्टिकोण से शत-प्रतिशत काव्य-कला का ही भावात्मक स्वरूप है । अतुकांत छंदों का व्याकरण-व्यवस्थित शरीर गद्य की वस्तुवादिता से पूर्णतया उन्मुक्त होकर जब हृदय की रागात्मिका भावनाओं की प्राण-लहरों से अनुप्राणित हो जाता है, तब जिस व्यंजना में भाव लेखनी से साकार होने लगते हैं—वह व्यंजना ही गद्य-काव्य की संज्ञा से प्रसिद्ध है । पद्य की प्रबंधना तथा संगीत की साधना से परिपूर्ण भावराशि कविता है तथा गद्य की प्रबंधना एवं भाव की आत्मा से संयोजित अभिव्यक्ति गद्य-काव्य है । गद्य-काव्य में काव्य से एक सुविधा है । किसी सद्यःसंवेदित भावराशि की अपनी स्फूर्ति, प्रगति एवं प्रभाव पद्य में उसे प्रबंधित करते समय काफ़ी मात्रा में न्यून होती जाती है, और कवि को उसमें कुछ परिवर्तन भी कर देना पड़ता है, क्योंकि भावराशि को प्रबंधित करने में जितना समय व्यय किया जायगा ; चाहे वह थोड़ा या नगण्य ही क्यों न हो, उतने समय के भीतर

भावराशि की जो प्रतिमा हमारे हृदय पर बनी है, उसका स्वरूप क्षीण होता जाता है और मिट भी जाता है। अतः इस प्रतिमा का जो चित्र हम अंकित करेंगे,वह Recollection (स्मृति-आवर्तन) के मानसिक पट से छनकर आयेगा—उसमें उतनी विदग्धता एवं मार्मिकता नहीं रहेगी। इस कसौटी पर गद्य-काव्य विशुद्ध काव्य (Pure poetry) से विशेष महत्त्वशील उतरता है। किन्तु विशुद्ध काव्य की संतुलित पद्य-बद्धता तथा संगीत की विदग्धता उसकी 'अपील' (appeal) को कई गुना ज़्यादा व्यक्तीय (Expressive) एवं मार्मिक (Impressive) बना देती है। संगीत हमारी आत्मा एवं अंतस्तल की सबसे निकट की और सबसे अपनी प्रेरणा है। विशुद्ध काव्य की प्रभविष्णुता का मूल कारण इसी संगीत की विभूति में सन्निहित है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध विद्वान् डा० 'काज़िन्स' ने 'काव्य' पर व्याख्यान देते हुए बड़े ही तत्त्वशील और मार्मिक वाक्य कहे हैं :

When the soul feels in itself the Highest, the fullest a musical out-burst seizes the integrity........................And the soul does not always sing in versified tune, but it is very often that the unconscious flow of emotion,

we daily mark, is in simple and emotional fervour."

'अर्थात् जब आत्मा अपने स्वीय सर्वोच्च एवं परिपूर्णा का अनुभव करती है, तब एक संगीतमय प्रवाह-प्रवेग निजत्व पर अधिकार कर लेता है........और आत्मा सदैव पद्य-विश्रृंखलित स्वर में ही नहीं गाती, किंतु प्राय: ऐसा होता है कि भाव का अचेतन प्रवाह, जैसा कि हम देखते हैं, सरल एवं भावात्मक धारा में ही बहता है।'

भारतेंदु के बाद 'प्रेमघन' पं० गोविंदनारायण मिश्र ने भी काव्यात्मक गद्य लिखा, किन्तु भारतेंदु के गद्य की भाँति हम उसे भी काव्यात्मक गद्य ही कह सकते हैं, गद्य-काव्य नहीं; क्योंकि 'टेकनीक' के विचार से गद्य-काव्य और काव्यात्मक गद्य दो भिन्न वस्तु हैं। काव्यात्मक गद्य गद्य-व्यंजना की प्रत्येक प्रणाली में स्थान पा सकता है, उसका कोई अपना 'टेकनीक' नहीं है—अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह कहानी में, उपन्यास में, नाटक में, निबंध में, और समालोचना आदि सभी में अपनी उपस्थिति प्रगूढ़ कर सकता है। किन्तु गद्य-काव्य एक अलग और स्वतंत्र सत्ता है, जो अपनी एक स्वतंत्र और परिपूर्ण 'टेकनीक' रखता है हिन्दी-

साहित्य में, अतः स्वतंत्र रूप से गद्य-काव्य का सूत्रपात पं० बालकृष्ण भट्ट की प्रौढ़ लेखनी से हुआ। उन्होंने छोटे-छोटे भावना-मूलक गद्य-काव्य लिखे, जिनमें छोटे-छोटे कथावृत्तों की शरण लेकर भाव-प्रवण वाक्यों का सरस संवेदन है। इसी आकार-प्रकार को लेकर तथा रवि बाबू की भाव-शैली की अनुरूपता दिखाते हुए रायकृष्णदासजी अपनी 'साधना' लेकर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उतरे। 'साधना' रवीन्द्र के (Gardener) 'माली' की भाँति एक काव्यात्मक दर्शन एवं जीवन-सम्बन्धी विचारों से आप्लावित अद्वितीय गद्य-काव्य-कृति है। चतुरसेन शास्त्रीजी के गद्य-काव्य हिन्दी की अपनी चीज़ हैं—धर्म और आत्मधर्म का मानव के जीवन से संबंध तथा मानवीय मनोवृत्तियों का आन्तरिक विश्लेषण शास्त्रीजी की अपनी विशेषता है। इधर कई दिनों से 'चाँद' तथा हिन्दी की अन्य पत्र-पत्रिकाओं में दिनेश-नंदिनी चोरड्या ने अनेक गद्य-काव्य प्रकाशित करवाये हैं—जो भावना तथा शैली के दृष्टिकोण से अपनी अलग विशेषता रखते हैं। प्रारंभ से लेकर अंत तक इन गद्य-काव्यों में प्रेम के अतिरिक्त अन्य और कोई भाव का आभास भी नहीं है। और वास्तव में प्रेम की समस्त एवं निगूढ़

गांभीर्यमयी अवस्थाओं का चित्रण भी नहीं हो पाया है। भाव-प्रवणता के उथले धरातल तक ही लेखिका की तूलिका सीमित रही—जल की गहराई में व्याप्त गंभीरता पर उसकी साधना नहीं केन्द्रित हो पाई। अपनी 'वेदना' की अंजलि में अभी हाल ही में श्रीभँवरलाल सिंघी कुछ बड़े ही गंभीर एवं मार्मिक गद्य-काव्यों की सौरभ संचित कर हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। उनकी शैली गद्य-काव्य की आदर्श शैली निस्संकोचरूपेण कही जा सकती है। भावना के तरल-प्रशांत धरातल का जैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन सिंघीजी की वेदना में प्रसूत है, वह हिन्दी के लिए एक अमूल्य वस्तु है।

कहानी और उपन्यास मानव-समाज की सबसे पहली अभिव्यक्तियाँ हैं। सृष्टि के सृजन-मूल में ही कहानी की हृदयस्थ व्यंजना है। कथा आदि-जीवन एवं आदि-काल की वह उन्मुक्त अनुभूति है, जो उस 'पुरुष' के अधरों पर उस 'प्रकृति' से कहने के लिए मुखर हो पड़ी थी, एवं वह विदग्ध धूमिल-सा स्वप्न या भाव-प्लावित अंतःस्तल का वह उच्छ्वसित आवेग है, जिसको 'प्रकृति' की वाणी ने 'पुरुष' के कानों में विस्फूर्जित कर दिया था।

ग्राम्य-गीत

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ग्राम्य-गीतों का संचयन, संकलन, विवेचन एवं प्रकाशन आदि सभी भारतीय राष्ट्रीय जागृति के परिणाम हैं। राष्ट्रीय महासभा ने जब ग्राम्योद्धार तथा ग्राम्य-जागृति के प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए देश भर में आन्दोलन की लहर व्याप्त कर दी—आधुनिक पदार्थवादी (materialistic) और मशीन-वादी (machinery-ridden) सभ्यता के विषैले प्रभाव को स्पष्ट करते हुए जब बापू की दिव्य वाणी से फूट पड़ा—'गाँवों की ओर' (Back to the villages) तभी से हमारी साहित्यिक एवं राजनैतिक प्रचेष्टाएँ गाँवों की सरल भूमि पर केन्द्रित होने लगीं। ग्राम्य-साहित्य-निर्माण करने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे। अनेक हिन्दी के

गण्य-मान्य विद्वान् ग्राम्य-साहित्य-संकलन एवं निर्माण के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए—और अब दिन-प्रतिदिन लोगों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट होता जा रहा है। इस आन्दोलन में सबसे प्रथम अपना क्रियात्मक प्रोग्राम उपस्थित करनेवाले श्रीरामनरेश त्रिपाठी हैं। उन्होंने देश के एक बड़े विभाग में यात्राएँ करके ग्राम्य-गीतों का संकलन किया। हिन्दी में उनकी यह देन उनकी एक अमर यशःकृति है। त्रिपाठीजी द्वारा ग्राम्य-गीतों में आभासित जो एक सरल परिस्थिति एवं हृदय की जो एक अपनी मौलिक भावना है, उसमें भारत की जो चिरन्तन मनोवृत्ति निगूढ़ है—उससे हमारे राजनीति-क्षेत्र के अधिकांश नेता शायद परिचित भी नहीं होंगे। वास्तव में किसी देश की सभ्यता एवं संस्कृति की परम्परा के स्तरों से छनती आती हुई चिरन्तन स्रोत-धारा ग्राम्य-साहित्य के अक्षरों में ही प्रतिबिंबित रहती है—चौपालों पर अलापे जानेवाले गीतों में ही प्रतिमुखर रहती है—जीवन के सामान्य क्षणों में स्वत: गुनगुनाये या सखी-सहेलियों के साथ गाये जानेवाले ग्राम्य-स्त्रियों के गीतों में ही ध्वनित रहती है। इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले दूसरे यशस्वी व्यक्ति हैं श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी। सत्यार्थीजी ने ग्राम्य-

गीतों का विवेचन एवं व्याख्या करते हुए जो भावात्मक लेख लिखे हैं—उनको हम हिन्दी की अमर सम्पत्ति मान सकते हैं। ऐसा भावात्मक गद्य और ऐसा सरल-तरल विवेचन हिन्दी की एक नवीन वस्तु है। सत्यार्थीजी की लगन सराहनीय है, उनकी साधना अभिनंदनीय है और इस क्षेत्र में उनकी सेवा अनुकरणीय है। श्रीसूर्यकरणजी पारीख ने भी राजस्थान के गीतों पर कुछ लेख लिखे हैं तथा और भी अनेक विद्वान् लेखक इस क्षेत्र में अपनी साधना निगूढ़ किये हुए हैं। ग्राम्य-गीतों का प्रकाशन एवं ग्राम्य-साहित्य का निर्माण एक तो राष्ट्रीय एकता का उत्पादक है, दूसरा 'ग्राम' और 'नगर' के जीवन का समवाय कर्त्ता है। इस समवाय से बड़ा भारी लाभ है—एक तो 'ग्राम' भी सभ्यता एवं विकास की प्रगति में 'नगर' के साथ हो जायँगे और दूसरे नगरों की उत्तेजक प्रगति में गाँवों के प्रभाव से कुछ शान्ति का समावेश हो जायगा—देश में एक संतुलन-सा (balance) आ जायगा।

अनुवाद

अनुवाद कोई हेय वस्तु नहीं है—अनुवाद के अन्तराल में हृदय की ग्राहिणी प्रवृत्ति का समावेश है—उसमें किसी

भी भाषा के, साहित्य के भावना-पक्ष की हृदय-ग्राहिता छिपी रहती है। साहित्य केवल रचना एवं निर्माण ही नहीं है, वरन् वह संकलन, अवतरण और संचयन भी है।

अन्य भाषाओं के साहित्योपवनों में से कला-पुष्प-संचय करने का मुख्य द्वार अनुवाद है। अनुवाद की अवतरण-प्रणाली पर साहित्य की विनिमय-मनोवृत्ति निर्भर है। बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी में अनुवादों की ओर काफ़ी ध्यान दिया गया है। बँगला, अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के साहित्य में बिखरी सौरभ-श्री का अवतरण बड़े सुसंस्कृत स्वरूप में हमारे साहित्य में आज उपलब्ध है। बँगला-ग्रंथों का अनुवाद सबसे प्रथम और विशेष गणनीय कोटि में श्रीरूपनारायणजी पांडेय की लेखनी से सृष्ट हुआ। द्विजेन्द्रलाल राय के समस्त नाटकों के अनुवाद तथा बंकिम-शरत् आदि प्रगल्भ उपन्यासकारों के कथा-साहित्य का हिन्दी-अनुवाद बड़े ही सुन्दर एवं साकाररूप में पांडेयजी की लेखनी से निःसृत हुआ। बँगला के दूसरे सफल अनुवादक हैं श्रीधन्यकुमार जैन। पांडेयजी से अधिक सफलता जैनजी को बँगला-अनुवाद में प्राप्त हुई—किन्तु केवल रवि बाबू के ग्रंथों में ही। पं० ठाकुरदत्त मिश्र एक बड़े लम्बे अरसे से बँगला-कथा-साहित्य के अनुवाद

में प्रगतिशील हैं और कहीं-कहीं तो उनका अनुवाद बिलकुल मौलिक रचना-सा प्रतीत होता है। प्रभाकर माचवे, काशीनाथ त्रिवेदी प्रभृति विद्वानों ने मराठी एवं गुजराती के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों एवं लेखों के अनुवाद हिन्दी में किये। अनुवाद का क्षेत्र हमारे साहित्य में और भी विस्तृत एवं प्रगूढ़ हो गया, जब कि प्रेमचन्द्रजी ने अपने 'हंस' में समस्त भारतीय भाषाओं एवं पाश्चात्य भाषाओं के कहानी-साहित्य को अनूदित स्वरूप में प्रकाशित करने का कार्यक्रम निश्चित कर लिया। प्रकाशकों में सरस्वती-प्रेस एवं हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर का इस क्षेत्र में विशेष स्थान है। हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर के प्रबंधकर्ता श्रीनाथूराम प्रेमीजी का जो नवीन आयोजन प्रारंभ हुआ है, वह हिन्दी के लिए एक महत्त्व की बात है। रूसी साहित्य के अनुवाद प्रस्तुत करने का श्रेय विशाल भारत को है।

अनुवाद बड़े महत्त्व की वस्तु है। अनुवाद की विभूति सभी भाषाओं के साहित्य का दिव्य सम्मेलन सम्पन्न करती है—विश्व-साहित्य-श्री के प्रकाश में हम अपने साहित्य में प्रस्थित अंधकार एवं छायात्मक स्थलों को देख सकते हैं; और उनका आदर्श सम्मुख रखकर अपने विकास को भी उसी प्रगति के पथ पर आरूढ़ कर सकते हैं।

किन्तु यह जितनी लाभ की वस्तु है, उतनी ही कठिन एवं सूक्ष्म भी है। वास्तव में देखा जाय तो अनुवाद मौलिक रचना से भी कठिन होता है—अनूदित अंश मौलिक की मौलिकता से परिपूर्ण, उसकी आत्मा से सम्पन्न, उसी की भावना से संयुत होना चाहिए। संक्षेप में यह भी अपने में ही निगूढ़ एक महती शक्तिवाली कला है।

आत्मकथा और संस्मरण

आत्मकथा और संस्मरण साहित्य के बड़े महत्त्व-पूर्ण अंग हैं। आत्मकथा का हिन्दी में बड़ा अभाव है और वास्तव में देखा जाय तो वह हिन्दी में है ही नहीं। यहाँ केवल हमें अनुवाद के ही दर्शन होते हैं—–यह हिन्दी में एक बड़ी खटकनेवाली आवश्यकता है और विशेष शोचनीय विषय तो यह है कि अभी तक हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ।

संस्मरण के क्षेत्र में अवश्य कुछ प्रयत्न हुआ है। सेंट निहालसिंह ने सरस्वती में तथा श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने विशाल भारत में बड़े ही सुन्दर-सुन्दर संस्मरण लिखे हैं। संस्मरण की भी एक विभिन्न कला है। इसके वास्तव में दो स्वरूप हैं—एक व्यक्ति को लेकर चलती

है, दूसरी लेखक के भावना-सागर में व्यक्ति को डुबो कर। हम सेंट निहालसिंह के संस्मरण को पहली प्रणाली का नमूना कह सकते हैं, और चतुर्वेदीजी की प्रणाली को दूसरी का आदर्श। संस्मरण लिखने में चतुर्वेदीजी का महत्त्व सर्वोपरि है। अपने सुलझे विचारों में उनकी लेखनी से जो चित्र एवं प्रचित्र प्रभूत होते हैं, उनमें प्रभाव की एक बड़ी महत्त्वशील पूर्णता रहती है। संस्मरणों का सम्बद्ध जाल जीवनी हो जाता है। कविरत्न सत्यनारायणजी की जीवनी संस्मरणों से प्रारम्भ होकर संस्मरणों पर ही पूर्णता निर्दिष्ट करती है। इसे लिखकर चतुर्वेदीजी ने जीवनी लिखने का आदर्श स्थापित कर दिया है--किन्तु बड़े शोक की बात है कि हिन्दीवालों ने इस क्षेत्र की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। हिन्दी में भी अनेक डा० जान्सन (Dr. Johnson) हो चुके हैं; किन्तु शोक है कि कोई Boswell की साधना को ग्रहण नहीं करता। श्रद्धेय गणेशजी, पं० पद्मसिंहजी शर्मा, पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी आदि अनेक गण्य-मान्य विद्वान्, आचार्य एवं महापुरुष हमारे साहित्य की रंगस्थली से अतीत हो चुके हैं—किन्तु उनकी जीवनी पर किसी का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हुआ। संक्षेप में यह अभाव एवं शिकायत एक लज्जा की बात है।

इस प्रकार हमारा साहित्य विकास की आदर्श भूमि की ओर अपने सम्पूर्ण प्रवेग एवं दिव्य साधना के अवलंबन से प्रगतिशील है—साहित्य के सभी अंगों पर भावना के केन्द्र निगूढ़ हो रहे हैं—सभी पहलुओं पर कलात्मक एवं साहित्यिक दृष्टि-विक्षेप हो रहा है। हमारा भविष्य उज्ज्वल है, स्वर्णिम है और सम्पूर्ण है——हमारा वर्तमान यही आभासित कर रहा है।

साहित्य में अंग्रेज़ीपन

किसी भी देश-विशेष की संस्कृति जब अन्य देश की संस्कृति के संपर्क में आती है, तो दोनों पर एक दूसरे का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। कहीं-कहीं यह प्रभाव नाम-मात्र को होता है और कहीं-कहीं बहुत अधिक मात्रा में। यही नहीं, कहीं-कहीं तो एक संस्कृति अन्य संस्कृति के अस्तित्व तक को लोप कर देती है, और अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर नवीन साँचे में उस संस्कृति का स्वरूप निर्माण करती है।

भारतवर्ष का चिरकाल से यह सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ अनेक विभिन्न स्वरूपवाली संस्कृतियों का आगमन हुआ और प्रत्येक का काफ़ी प्रभाव इसकी संस्कृति पर पड़ा; किन्तु वह प्रभाव इतना विशाल स्वरूप

कभी नहीं ग्रहण कर पाया जिससे भारतीय संस्कृति अपने वास्तविक स्वरूप को लोप कर दे तथा नवीन संस्कृति की आत्मा से अनुप्राणित और उसकी वेशभूषा से अलंकृत हो जाय। यह प्रभाव सदा एक क्षीण-सा बाह्य रंग ही रहा है जो 'कारी-कामरी' के रंगवाली आर्य-संस्कृति पर अपना प्रभाव आरोपित नहीं कर सका और वास्तव में इस रंग का क्षीण आभास भी प्रतीत नहीं होता, यदि आगंतुक संस्कृतियाँ शासक-स्वरूप में न आतीं।

ऐतिहासिक सामग्री से स्पष्ट है कि इन सभी आगंतुक संस्कृतियों से आर्य-संस्कृति इतनी प्रभावित नहीं हुई जितनी अँगरेज़ी द्वारा लाई पाश्चात्य-संस्कृति से। आर्य-संस्कृति की भावधारा और प्रकाशधारा को पाश्चात्य-संस्कृति ने अपने साथ बहुत-कुछ मिला-सा लिया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। यूनानी-संस्कृति का प्रभाव आर्य-संस्कृति पर अँगरेज़ी की अपेक्षा नगण्य-सा पड़ा। क्योंकि पहले तो यूनान-निवासियों की सत्ता स्थापित न होने के कारण उनका समस्त देश में विस्तार न हो सका, दूसरे गमन-आगमन की इतनी सुविधाएँ न थीं। मुसलमान-संस्कृति का प्रभाव भी अँगरेज़ी की अपेक्षा कम है।

क्योंकि मुसलमान सम्पूर्ण देश पर अपना शासन स्थापित नहीं कर सके, आने-जाने की इतनी सुविधाएँ भी नहीं थीं और देश में अशांति के बवंडर तांडव कर रहे थे। किसी भी संस्कृति का प्रभाव शांति के समय में ही विशेष रूप से अपना कार्य कर सकता है। नवीं शताब्दी से लेकर लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक का काल भारतीय इतिहास में परिवर्तन, विद्रोह और अशांति का समय रहा है। इसी कारण मुसलमान-संस्कृति लगभग एक हज़ार वर्ष में भी वह कार्य न कर सकी जो शांति का अवलंब पाकर अँगरेज़ी-संस्कृति केवल इन पचास वर्षों में ही कर सकी है।

हिन्दी-साहित्य और भाषा दोनों पर अँगरेज़ी का प्रभाव अमिट-सा पड़ा। साहित्य का सम्बन्ध विचार और भावनाओं से है और भाषा का बाहरी शृंगार से। विचार और भावनाओं के साथ-साथ अँगरेज़ी का प्रभाव विचार करने की शैली और भाव-उद्रेक की प्रणाली पर भी पड़ा। हमारा शिक्षित-समुदाय दिन-रात अँगरेज़ी के सम्पर्क में विशेष रहने के कारण हिन्दी में विचार करना तक भूल गया। जब उसका मस्तिष्क किसी घटना अथवा किसी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ स्थापित करने को

प्रस्तुत होता है तो अँगरेज़ी के शब्दों में ही उसके विचार प्रकट होने लगते हैं। हिन्दी के सभी वर्तमान लेखक किसी-न-किसी मात्रा में इसी व्यसन से विवश हैं। विचार-प्रणाली पर प्रभाव के साथ-ही-साथ भाव-ग्रहण की प्रणाली पर भी अँगरेज़ी का प्रभाव लक्षित है। हमारे वर्तमान हिन्दी-कवि आर्य-संस्कृति के मूल में स्थित समन्वय की भावना को भुला बैठे हैं। निराश और संतप्त प्राणों को वेदना की भूमि से उठाकर अमर आशा के मनोरम प्रदेश में ले जानेवाला तुलसी का संदेश हमारे कवि विस्मृत कर बैठे हैं। अश्रुपूर्ण आँखों और आक्रांत अंतस्तल को अपने वेदना-पूर्ण क्रंदनों से हमारे वर्तमान हिन्दी-कवि और भी शोचनीय अवस्था में परिवर्तित करने का उपक्रम कर रहे हैं। वास्तव में हमारे साहित्य में आँसू की ऐसी कूल-सीमा का अतिक्रमण करनेवाली धारा कभी न बही थी।

शेली, कीट्स और बायरन का नीरव रोदन और कल्पना की उड़ानें हमारे वर्तमान हिन्दी-कवियों को अपने से दूर बहा ले गईं। उनमें या तो वेदनामय होने का बनावटीपन है अथवा वह वेदना अपने ही स्वयं का रोना रोनेवाली है। उसमें न तो असंख्य पीड़ितों की पुकार

है, और न निराशा में मुख लपेटे प्राणियों का रोदन और हाहाकार ही। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वर्तमान हिन्दी-कवियों में सभी इसी श्रेणी में परिगणित होते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा, प्रसादजी, 'निराला' जी आदि हिन्दी-कवि इस आक्षेप-आरोपण के अन्तर नहीं आ सकते। इन्होंने भी अपनी व्यक्तिगत वेदना व्यक्त की है; किन्तु उनमें अमर आशा की एक बड़ी उज्ज्वल ज्योति है। दूसरे, उनकी वेदना जनता की वेदनाओं की एक अनेक स्वरमिश्रित स्वर-लहरी है। जनता की वेदना का अभिप्राय है कि कवि में उसकी अपनी निजी वेदना के भीतर भी एक ऐसा सार्वजनिक तत्त्व रहे जिसमें सभी अपनी मनोभावना की झलक देख सकें। महादेवीजी के गीतों को प्रत्येक व्यक्ति अपने निज की स्वर-लहरी कह सकता है। दूसरे उनमें जीवन का सत्य कितनी व्यापकता से मिलता है; जिसमें आश्वासन की एक अमर करुणा है :

'मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।'

पाश्चात्य कवि कभी समय की पुकार की अवहेलना नहीं कर सके, जनता के सुख-दुखों को नहीं ठुकरा सके। किन्तु हमारे कवि इन कवियों को नहीं समझ सके। वे उनके अंतःकरण को ग्रहण न कर बाहरी रूप पर ही

मुग्ध हो गये। वे उनके-जैसा अनुभव (Feel) नहीं कर सके ; किन्तु उनके-जैसा बनने की चेष्टा करते रहे—केवल बाहरी रूप से नक़ल करके। यही अवस्था हमारे लेखकों की है। वे भी अधिकांश संख्या में जनता से दूर चले गये।

भाव-धारा के स्वरूप पर अँगरेज़ी का अनिष्टकारक प्रभाव नहीं ; किन्तु वह अनिष्टकारक प्रणाली द्वारा ग्रहण किया गया है। किसी संस्कृति का प्रभाव अन्य संस्कृति पर अनिष्टकारक नहीं होता ; केवल ग्रहण करने की प्रणाली ही उसे ऐसा बना देती है। जब तक उसके रहस्य और आंतरिक पक्ष तक ग्रहण करनेवाले की प्रतिभा नहीं पहुँचेगी तब तक उसके सुगंधित पौदों को अन्य साहित्य अपने उपवन में नहीं लगा सकता।

अँगरेज़ी द्वारा हम अपनी संस्कृति पर कुठाराघात कर चुके ; किन्तु अँगरेज़ी से हमारे साहित्य की प्रकाश-प्रणालियों में विस्तार भी हो गया है। भावाभिव्यक्ति के अनेक नवीन मार्ग बन गये। उपन्यासों, कहानियों और गद्यकाव्यों का प्रचलन अँगरेज़ी द्वारा ही हुआ ; जिससे हमारे साहित्य का काफ़ी विस्तार हुआ। किन्तु सबसे महत्त्व का लाभ हुआ—गद्य-साहित्य का निर्माण।

अँगरेज़ी के पहले हमारा गद्य-साहित्य नाम को भी नहीं था। वास्तव में अँगरेज़ी ने हमारे गद्य को जन्म दिया। गद्य का अभाव एक शोचनीय अभाव था। इसके लिए हिन्दीवाले अँगरेज़ी के सर्वदा अनुगृहीत रहेंगे।

अभिव्यक्ति-प्रणाली की विभिन्नताओं के साथ अनेक परिवर्तनों का भी हिन्दी-साहित्य में अँगरेज़ी के सम्पर्क द्वारा समावेश हुआ। गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई, जिससे यद्यपि हम सूर, तुलसी के मार्ग से हट गये और अब उनके विचारों के इतने समीप नहीं जा सकते; किन्तु इससे एक बड़ा भारी लाभ यह हुआ कि काव्य-भाषा की एकता स्थापित हो गई। सूर की व्रज, तुलसी की अवधी, मीरा की राजस्थानी, केशव की बुंदेली और विद्यापति की मैथिली के विभिन्न रंगों पर एक रंग की छाप लग गई। विभिन्नता का स्थान एकता ने ले लिया। भाषा की यह एकता भारत के हिन्दी-प्रांतों के निवासियों की एकता का मूल है। समय की बचत और परिश्रम का अभाव भी इससे हुआ। काव्य-रसिकों एवं विद्यार्थियों को कवि-विशेष के काव्य में अवगाहन करने के लिए उस कवि की भाषा-विशेष के अंतस्तल में पैठने का परिश्रम अब नहीं रहा। किन्तु इससे बड़ी भारी हानि भी हुई। प्रांतीय

बोलियों का साहित्य से बहिष्कार हो गया। हम श्रेष्ठतर को पकड़कर श्रेष्ठ को भूल गये। बड़ी आवश्यकता के फेर में छोटी आवश्यकता का ध्यान ही न रक्खा। राष्ट्रीयता की दृष्टि से साहित्य-भाषा की एकता श्रेयस्कर है; किन्तु हमारी वर्तमान साहित्य-भाषा में अपनापन नहीं। अपनापन है माता के द्वारा सिखाये अपने प्रान्त के शब्दों में। अंतर्प्रांतीयता की वेदी पर हम अपने प्रांतीय स्वत्व को बलिदान कर बैठे। थोड़े दिनों में ये बोलियाँ हमारे लिए ग्रीक और लैटिन हो जायँगी और सूर, तुलसी वर्जिल तथा होमर।

हमारे प्राचीन कलेवर में भी अँगरेज़ी ने काट-छाँट की। काव्यों और नाटकों में मंगलाचरण, गणेश तथा इष्टदेव-वंदना सब लोप हो गईं। प्राचीन कविगण देवताओं और अक्षरों से शकुन-अपशकुनों की संभावना करते थे। वह प्रवृत्ति भी नष्ट हो गई। नाटकों में भी नवीनताओं का प्रवेश हुआ। सूत्रधार-प्रसंग, आकाशवाणी आदि के स्थान पर अँगरेज़ी ढंग का 'प्रारम्भ' होने लगा। काव्यों में महाकाव्यों की परम्परा नष्ट-सी होने लगी। गीति-काव्यों का प्रचलन बढ़ चला तथा प्राचीन छंदों के स्थान पर नवीन छंदों और गीतों का आविर्भाव हुआ। Blank verse

का समावेश अँगरेज़ी की ही देन है। छंदों की नवीनता से अभी तो कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, किन्तु भविष्य में इसके बड़े शोचनीय परिणाम होंगे। हमारा छंदःशास्त्र लोप हो जायगा। इस प्रकार हम अपने एक विकसित काव्यांग को खो बैठेंगे।

समालोचना-शैली में भी परिवर्तन हुआ। अलंकारों, लक्षणों तथा रस-भेदों की खोज के स्थान पर मनोवैज्ञानिक प्रणाली की सत्ता आरूढ़ हुई।

इस प्रकार अँगरेज़ी ने हमारे साहित्य की क्षति-पूर्ति भी की और पूर्ति-क्षय भी किया। हम अपने से दूर चले। अपने पूर्वजों के अनुभव-भांडार को छोड़कर दूसरों के अनुभवों पर निर्भर रहने लगे। अँगरेज़ी से पूर्व किसी प्रसंग की परिपुष्टि के निमित्त कहावतें, उद्धरण तथा सुभाषित हम या तो संस्कृत से लेते थे या सूर, तुलसी आदि कवियों के ग्रंथों से अथवा प्रान्त-प्रचलित भांडार से; किन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्यकार इनके लिए विदेशी साहित्य की सहायता माँगते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम अपने में ही निगूढ़ रहें। दूसरों से श्रेष्ठता ग्रहण करना गुण-ग्राहकता है; किन्तु अपने का तिरस्कार कर दूसरे की ओर दौड़ना कभी श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता।

यह तो यही हुआ कि अपने मूल को काटकर दूसरे के मूल पर अवलंबन पाने की धारणा करना।

इसके अतिरिक्त हम अपने साहित्य की——केवल साहित्य की ही नहीं, वरन् संस्कृति की सनातन धारा को भी तिरोहित कर रहे हैं। हमारी संस्कृति अध्यात्म-मूलक है। इस आध्यात्मिकता का स्थान आजकल जड़-वाद या पदार्थ-वाद ले रहा है। पदार्थ-वाद की हमारे साहित्य में आवश्यकता है ; किन्तु जड़-वाद की यह विकराल लहर भयप्रद प्रतीत होती है।

साहित्य की भाँति हिन्दी-भाषा पर भी अँगरेज़ी का परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा है। भाषा में अभिव्यक्ति की शक्ति बढ़ती जा रही है। नए-नए प्रयोगों से भाषा का भावप्रकाशन का भांडार परिवर्द्धित होता जा रहा है। नवीन शब्दों का आवश्यकतानुसार आविर्भाव होता जा रहा है, जो शब्द-भांडार को उन्नत बनाने का एक सफल प्रयत्न है। कविता के अनेक शब्द और शब्द-समुच्चय सीधे अँगरेज़ी से अनूदित हैं। गद्य में अधिकतर इस नवीन धारा के लेखक तो पूर्णतया अँगरेज़ी-गद्य की शैली के आधार पर अपने भावों को व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार व्याकरण के स्वरूप को अँगरेज़ी ने काफ़ी परिवर्तित किया

है। परिणाम अभी नहीं तो भविष्य में यह होगा कि हमारी भाव-प्रकाशन-शैली अँगरेज़ी-शैली का देवनागरी-लिबास में एक नया रूप बन जायगी, जो हमारी मौलिकता न रहकर, विदेशी संस्कृति से निःसृत 'पराई चीज़' ही प्रतीत होगी। हमको भाषा का विकास करना है, उसमें आवश्यकतानुसार सुधार करना है; किन्तु अपनी शैली पर, अपनी ही मौलिक उद्भावना पर। शब्द-समूह के परिवर्द्धन का लाभ बड़ा भारी लाभ है; किन्तु इसकी महत्ता तभी प्रतीत होगी जब कि हम यह विचार कर लें कि प्राचीन काल में या तो कदाचित् हम विचार-शक्ति में इतने उन्नत नहीं थे, विचार व्यक्त करने के उपयुक्त शब्द हमारे कोष में नहीं थे, या यह कि हम उस कोष को खो बैठे। यदि वास्तव में हम विचार-शक्ति में हीनतर थे या विचार-अभिव्यक्ति के लिए हमारे पास पर्याप्त कोष नहीं था तो अवश्य अँगरेज़ी का यह प्रभाव हमारे लिए वरदान है। किन्तु यह बात नहीं है। हमारे कवि, हमारे दार्शनिक इन गुणों से हीन नहीं थे, हमारी भाषा का कोष उपयुक्त शब्दों से रिक्त नहीं था। दोष है हमारी प्रवृत्ति का, हमारे बंधनों का और परिणाम-स्वरूप में हमारी शिक्षा का और वातावरण का।

विराम-चिह्नों का नया समावेश जो हमारी भाषा में हुआ, वह भी अँगरेज़ी के प्रभाव को पूर्णतया प्रकट करता है। कॉमा, सेमी-कोलन, कोलन आदि चिह्नों का हमारी भाषा में अभाव था। इनके प्रवेश से भाषा में प्रवाह की मात्रा बढ़ गई तथा साथ-ही-साथ भाव-ग्रहण करने में भी सुविधा हुई।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का वर्तमान स्वरूप अँगरेज़ी का कुछ ही परिवर्तित स्वरूप प्रतीत होता है। अंतर है केवल लिपि का तथा थोड़ी-सी शेष बची भारतीयता का। साहित्य का प्रत्येक अंग और भाषा की प्रत्येक शिरा अँगरेज़ी से प्रभावित हुई, जिससे साहित्य और भाषा की शक्ति बढ़ने के साथ-ही-साथ अनेक संक्रामक रोग भी आ गये। इस समय आवश्यकता है सतर्कता की तथा नीर-क्षीर-विवेक के साथ आगे बढ़ने की।

हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग

पूर्णता में अपूर्णता और अपूर्णता में पूर्णता के भ्रांतिमय आभास की एक बड़ी पुरानी कहानी है, या दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि मनुष्य के मन की मृगमरीचिका-प्रवृत्ति की एक कहानी है। सृष्टि प्रारंभ हो चुकी थी। मनुष्य पृथ्वी पर आकर रैन-बसेरा बसा चुका था, और चाहे जिस हालत में रहा हो; किन्तु वह पृथ्वी की छाती पर अपना अस्तित्व अनुभव कर रहा था। शरद निशा थी। स्वच्छ नीले आकाश में चाँद हँस रहा था—अपने असंख्य चाँदी के मुखों से वह पृथ्वी के धरातल पर उपस्थित सभी जड़-चेतन वस्तुओं को चूम रहा था। मनुष्य ने उसको देखा। उस समय मनुष्य ईश्वर की खोज में तन्मय था और यों कहना चाहिए कि दिन-रात

ईश्वर के सिवाय उसको शायद कोई और कार्य ही नहीं रहता था। चाँदनी की मुस्कराहट बिखेरते हुए चन्द्र को देखकर उसे ज्ञात हुआ कि ईश्वर की पूर्ण ज्योति उसी में समा गई है। वह घुटने टेककर स्तुति में लीन हो गया—मानों उसे अपने मन की पूर्णता मिल गई थी। थोड़ी देर बाद चाँद अस्त हो गया। मनुष्य ने आँखें ऊपर उठाकर देखा अगणित तारिकाएँ नीले रंगमंच पर नृत्य कर रही थीं—उनके नीरव गान को सुनकर वह मग्न हो गया—उसे ज्ञात हुआ कि परिपूर्ण ब्रह्म इन्हीं तारिकाओं की चमकती आँखों में समाया हुआ है। रोज़ मनुष्य उनमें अपना पूर्ण रूप देखता। फिर बरसात के दिन आये—बादलों से आकाश भर गया—गर्जन-तर्जन-वज्रपात और बादलों का पानी उडेलना—एक भीषण चीत्कार हुआ, बिजली चमकी और फिर बुझ गई—न-जाने कहाँ बादलों में। मनुष्य अस्थिर हो उठा—ओह ! इस चमकती चंचला में है ईश्वर, वहाँ चन्द्रमा में कहाँ ? तारिकाओं में कहाँ ? प्रात:काल हुआ। प्राची के उस धरातल पर, जहाँ प्रियतम-प्रेयसी की भाँति आकाश और पृथ्वी मिलते हैं, उषा हँस रही थी। मनुष्य का मन विचलित हो उठा—हाँ मैं ठीक से नहीं समझ पाया था, ईश्वर की

पूर्ण कला तो यहाँ है ! इसी भाँति वह बहुत काल तक पूर्णता की मृगमरीचिका की खोज में व्यस्त रहा, आखिर एक दिन घबराकर कह उठा : 'नेति-नेति ।'

इसी प्रकार अनंत काल से मनुष्य पूर्णता के पीछे पागल रहा है, किन्तु उसकी पूर्णता की प्यास कभी नहीं बुझी—हमेशा ही वह प्यासा रहा, प्यासा ही रहता आया । मनुष्य की पूर्णता की साधना में साहित्य भी एक मुख्य अंग है । इस क्षेत्र में भी वह सदा पूर्णता की ज्योति की खोज में रहा है । उसकी कल्पना में जो कुछ आया, हृदय पर जैसा भी चित्र बना, यदि वैसा ही वह शब्दों द्वारा न प्रकट कर सका, वैसा ही अपनी लेखनी से काग़ज़ पर शब्दों की रेखाओं से नहीं खींच सका, तो उसकी पूर्णता की साध पूरी न हुई—उसकी प्यास बुझ न सकी । और नहीं कह सकते कि यह मानव का सौभाग्य रहा है अथवा दुर्भाग्य कि कभी उसे अपने चित्र से, अपने रचनात्मक कार्य से, संतोष नहीं हुआ । रात-दिन जीवन पर्यंत वह शब्द-चित्र बनाता रहा, किन्तु उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई ; वह आजीवन बनाता रहा, बनाता गया और शायद अपनी राख में भी चित्र बनाने का अरमान छोड़ गया हो । किन्तु वह अपूर्णता से झगड़ता ही गया ।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि साहित्य सदैव कम-से-कम कलाकार की दृष्टि में तो अपूर्ण रहा है, और न-मालूम कब तक रहे। दूसरे, दिन-प्रतिदिन मनुष्य पूर्णता की ओर बढ़ता जा रहा है। अपने लक्ष्य की ओर वह बढ़ ही रहा है, उसकी गति रुकी नहीं—इससे यही ध्वनित होता है कि जो वस्तु आज की है वह कल की वस्तु से यदि और किसी दृष्टिकोण से न हो तो कम-से-कम आज के आदर्शों एवं सिद्धांतों के दृष्टिकोण से तो अच्छी होगी। इसके अतिरिक्त एक बात और। यदि किसी भाँति या किसी कारण से आज का निर्माण कल के निर्माण से अच्छा या श्रेष्ठतर नहीं हुआ तो यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि वह श्रेष्ठतर के लिए साधना तो कर रहा है। द्वितीया का चन्द्रमा चलते-चलते पूर्णिमा तक तो अवश्य ही पूर्ण कला की किरणों से अलंकृत हो जाता है। अस्तु। हमारे इस सम्पूर्ण विवेचन का अभिप्राय यह है कि हमारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक स्वर्ण-युग की परिधि-रेखा पर पहुँच गया है, और भविष्य में यह आशा है कि वह उसके केन्द्र-बिन्दु को भी छू सकेगा।

विकास-नियम के इस सिद्धांत पर विचार करने के

पश्चात् यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम हिन्दी-साहित्य के सब कालों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालें और प्रत्येक का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उन अभावों एवं आवश्यकताओं की ओर भी संकेत करें, जिनकी पूर्ति उसे शीघ्र करना है। विचार-धाराओं को दृष्टि में रखकर वर्तमान हिन्दी-साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जाता है—

(१) आदि-काल (वीर-गाथा-काल संवत् १०५०-१३७५)
(२) पूर्व-मध्य काल (भक्ति-काल ,, १३७५-१७००)
(३) उत्तर-मध्य काल (रीति-काल ,, १७००-१९००)
(४) आधुनिक काल (गद्य-काल ,, १९००-अब तक)

काल की आवश्यकता किसी वस्तु को जन्म देती है। जैसे विचारों की। जैसी भावनाओं की धाराएँ किसी काल में बहती रहेंगी वैसा ही साहित्य, वैसी ही कला और वैसी ही प्रवृत्तियाँ उस काल में पैदा होंगी, बढ़ेंगी और स्थिर हो जायँगी। वीर-गाथा-काल भारत के दूसरे महाभारत का काल था—इसे हम समर-काल या शौर्य-काल कह सकते हैं—अत: इस काल का समस्त साहित्य शौर्य भावनाओं एवं वीर-दर्प के विचारों से भरा हुआ है। गद्य का तो आविष्कार भी इस काल में नहीं हो पाया,

अतः जैसा भी, और जो कुछ भी साहित्य हमें इस काल की रचनाओं का प्राप्त है वह पद्य में ही है। कितनी हड़बड़ी का, कितनी घबराहट का था यह काल! किन्तु साहित्य और अमर साहित्य, काल एवं देश की परिमित सीमा का अतिक्रमण कर जाता है—यह बात वीर-गाथा-काल के साहित्य में नहीं थी। भावनाओं की यह उन्मुक्त उन्मेषिणी वीर-गाथा-काल के कवियों की तूलिका में नहीं प्रतिष्ठित हो पाई। वे केवल शौर्य एवं शक्ति के ही प्रदर्शन में लगे रहे। दूसरे, यह वीर-रस-चित्रण कहीं-कहीं बड़ा अस्वाभाविक भी हो गया है। तुलसी का वीर-रस एवं भूषण का शौर्य-भाव उससे कहीं अधिक प्राकृतिक एवं परिपूर्ण है।

वीर-गाथा-काल के पश्चात् भक्ति काल का आवर्तन हुआ। वीरता के क्षत-विक्षत शरीर पर शान्ति एवं विरक्ति का लेप करने के लिए कबीर, सूर, तुलसी की भक्ति-साधना उमड़ चली। इस काल की प्रज्वल प्रतिभा एवं उन्मुक्त ज्योति-प्रसार हमारे हिन्दी-साहित्य की ही क्या समस्त विश्व-साहित्य की एक बहुमूल्य देन है। यदि इस काल को किसी सीमा तक हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहें तो कोई अनुचित एवं अविचारणीय नहीं हो सकता। यदि

काव्य को ही साहित्य मान लिया जाय तो यह काल हिन्दी-साहित्य ही क्या सारे विश्व-साहित्य का निश्चय ही स्वर्ण-युग है। इस जैसा काल किसी भी साहित्य की प्रगति में अभी तक नहीं आया। विश्वजनीन भावनाओं का निदर्शन एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सजीव चित्रण जैसा इस काल की तूलिका से निःसृत हुआ वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक विद्वान् एवं आलोचक इस काल को एकांगी बताते हैं, किन्तु यह उनकी अल्प-ज्ञानता है। कोई भी चीज़ एकांगी एवं सर्वांगी उस काल के आदर्शों, परिस्थितियों और तज्जनित भावों के दृष्टिकोण में देखी जाती है। भक्ति-काल के कवियों ने साहित्य के लिए काव्य-साधना नहीं की—यह तो उनका गौण ध्येय था—उनकी साधना थी आक्रांत और उद्भ्रांत मानवता के विकल अंतस्तल में सत्य की ज्योति जगाना, आत्माहतों को आत्म-संजीवन प्रदान करना। कितनी करुणा थी उनकी इस स्वाभाविक साहित्य-तपस्या में! दूसरा दोष लगाया जाता है उन पर उनके व्यवहारात्मक नहीं होने का। किन्तु यह भी एक उपहास की बात है। तुलसी, कबीर तथा सूर की कितनी सुभाषित रत्नमालाएँ ग़रीब के जीर्ण झोपड़े से लेकर सम्राटों के महलों तक प्रत्यावर्तन पा रही हैं। हाँ, माना

जा सकता है कि इस काल में गद्य नहीं था, अतः वर्तमान काल से उसमें एक कमी थी ; किन्तु उस काल में रेलगाड़ी, बिजली आदि भी तो नहीं थे । मतलब यह कि वह काल अपनी स्थितियों, परिस्थितियों एवं भावनाओं के साथ एक अलग चीज़ है, और वर्तमान काल अपनी स्थितियों एवं परिस्थितियों के साथ एक अलग ।

भक्ति-काल का महत्त्व हमारे सामने इसलिए कम हो जाता है कि वह अपनी गति स्थिर नहीं रख पाया—भक्ति की प्रशांत और पुनीत वाटिका में पंचशर लेकर रति की केलि-क्रीड़ा नृत्य करने लगी । यह काल श्रृंगार का काल था । विश्राम, लिप्ति एवं वैभव का काल था । अतः कवियों की लेखनी ऐसे ही उपादानों की ओर झुक पड़ी । नायिकाओं के भेद-विभेद एवं यौवन-काल में प्रविष्ट नारी की भाव-स्थिति और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ, विरहिणी की केवल शारीरिक वेदना की व्यंजनाएँ आदि के सिवा इस काल में कविता का कोई और उद्देश भी नहीं था । श्रृंगार कोई घृणा की वस्तु नहीं—जीवन उसकी बड़ी सम्माननीय स्थिति है, किन्तु उसका विकृत-पतन विष से भी हानिकारक पदार्थ है हमारी भावनाओं के लिए । श्रृंगार का चित्रण वास्तव में रीतिकाल के कवि नहीं कर पाये ।

आंतरिक पक्ष की बलि-वेदी पर वे शारीरिक शृंगार का बलिदान करते रहे। हाँ, भूषण एवं लाल कवि की वीर-रस-परिप्लुत भावनाएँ कहीं-कहीं गूँज उठती थीं, किन्तु उनका घोष नायिकाओं के रुनझुन में छिप-सा गया।

प्रतिक्रिया जीवन का मार्मिक तत्त्व है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया हुई। आधुनिक काल अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ लेकर साहित्य के प्रांगण में उतरा। वर्तमान काल हिन्दी का स्वर्ण-काल है। इसके कई कारण हैं :

(१) भावाभिव्यक्तियों की विविधता।

(२) उन अभिव्यक्तियों में कला के तत्त्व की मार्मिक विवेचना।

(३) विश्वजनीन दृष्टिकोण।

(४) गद्य का आविर्भाव एवं उसका उत्तरोत्तर विकास।

(५) साहित्य-साधना में निर्लिप्ति का भाव।

(६) समालोचना का विकास और उससे साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन।

ये उपर्युक्त विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास को हिन्दी का स्वर्ण-युग कह सकते हैं; इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इसलिए अन्य

काल नगण्य है, इससे निम्नतर है—नहीं, ऐसा कभी नहीं। बात यह है कि यह इस काल की विशेषता है, समय की विशेषता है, जिसने इन ऊपर लिखित विशेषताओं को जन्म दिया। समय की स्थितियाँ ही तो किसी निर्माण में हाथ बँटाती हैं। वर्तमान काल में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आ गईं, जिनके कारण हमारे साहित्य में भी परिवर्तन आ गये। उनमें से कुछ ये हैं :

(१) योरोपीय एवं अन्य पाश्चात्य साहित्यों के सम्पर्क से भावना एवं विचार के कोष में परिवर्धन।

(२) शांति की पताका।

(३) गमनागमन के साधनों से सम्पूर्ण विश्व एक कुटुम्ब ही बन गया—भ्रातृत्व।

(४) वैज्ञानिक विकास से नवीनता एवं स्वाभाविकता का समावेश।

(५) राष्ट्रीय जागृति।

(६) मुद्रणकला में चरमोन्नति।

अस्तु यही समय हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहे जाने योग्य है ; क्योंकि आज का साहित्य सर्वांगी है।

समालोचना

जिस प्रकार कविता एक कला है ; उसी भाँति समालोचना भी एक कला है। कविता जीवन की कला है ; और साहित्य के अंतर्गत है, इसलिए आत्मा की भी कला है। समालोचना साहित्य की कला है, जिसमें जीवन तथा आत्मा दोनों सम्मिलित हैं। अत: काव्य-कला तथा साहित्य के किसी अंग-विशेष की कला से उसका महत्त्व अधिक है। कला साधारणतया जीवन की अभिव्यक्ति है और विशेष सूक्ष्म रूप में आत्मा की व्यंजना है। समालोचना कला की विश्लेषणी व्याख्या है। कला क्या है ? कला क्या होनी चाहिए ? कला कैसी है ; और कैसी होनी चाहिए ? कला का क्या उद्देश्य है और क्या होना चाहिए ? आदि स्वाभाविक प्रश्नों पर

विचार करने की चेष्टा तथा क्रिया इस कला की कर्म-भूमि है। समालोचना हमारे सामने किसी भी कला एवं साहित्य का सच्चा स्वरूप उपस्थित कर देती है। प्रस्तुत कला के नमूने अथवा साहित्य की कृति के समस्त गुण-दोषों को अलग-अलग करके समालोचना उसके शरीर तथा आत्मा का पूरा विवरण हमारे सामने बिखेर देती है।

कविता, कला तथा जीवन की कोई परिपूर्ण परिभाषा नहीं। सदैव से इनको परिभाषा की सीमित क़ैद में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु अभी तक कोई सम्पूर्ण गुणों को दर्शानेवाली परिभाषा के मूल तक नहीं पहुँच पाया। अँगरेज़ी का प्रसिद्ध समालोचक 'मैथ्यू आरनाल्ड' (Matthew Arnold) समालोचना की परिभाषा करते हुए कहता है कि 'संसार के सर्वोच्च ज्ञान एवं विचार के जानने और उसके प्रचार करने का निर्लिप्त प्रयत्न ही समालोचना है।'

'आरनाल्ड' के कथनानुसार समालोचना का उद्देश्य है प्रथम तो ज्ञान एवं विचार के प्राप्त करने की साधना तथा दूसरे इस प्राप्त सिद्धि का समाज में वितरण करना। साधना तथा वितरण दोनों के प्रयत्न में किसी भी प्रकार

की संतुलन-कमी नहीं होना चाहिए। यह प्रयत्न उसी साधना के विमुक्त भाव से हो जिसको गीता में 'पद्मपत्र-मिवाम्भसा' के नाम से कहा है; अर्थात् अपना व्यक्तिगत राग-द्वेष इस प्रयत्न पर अपना भला अथवा बुरा रंग न चढ़ावे; वरन् साधक के मन में एक ऐसा उदासीन (disinterested) भाव रहे जिसमें उसे अपने विचार आरोप करने की इच्छा न हो। समालोचक 'आरनाल्ड' (Arnold) की परिभाषा वास्तव में सुन्दर एवं व्यापक है; और समालोचना के असली स्वरूप की ओर काफ़ी स्पष्ट निर्देश करती है; किन्तु वह एकदेशीय एवं बड़ी ऊँची है। एकदेशीय इस विचार से कि वह केवल एक ही उद्देश्य को लेकर चलती है—वह उद्देश्य है ज्ञान एवं विचार की उपलब्धि। ज्ञान एवं विचार की उपलब्धि तो अध्ययन से और मनन से भी हो सकती है; और वास्तव में इनकी उपलब्धि के मूल साधन अध्ययन और मनन ही हैं; फिर उसको क्यों समालोचना का नाम दिया जाय? ज्ञान और विचार समालोचना के मूल तत्त्व नहीं, ये तो गौण वस्तुएँ हैं। उसका मूल तत्त्व है गुण और दोष का निरूपण तथा उच्छृंखल गति के कलाकार को पथ-प्रदर्शन। 'आरनाल्ड' की परिभाषा इस

प्रकार उपयोगिता की वेदी पर मूल तत्त्व का बलिदान कर देती है। उसमें दूसरा एकदेशीयपन उसके प्रचार-प्रयत्न मेंहै । प्रचार करना कला का उद्देश्य नहीं; उसका उद्देश्य तो है प्रदर्शन करना । प्रचार तो एक गौण प्रवृत्ति है। एकदेशीयता के अतिरिक्त 'आरनाल्ड' की परिभाषा में एक बड़ी ऊँची कल्पना है जिस तक साधारण मानव नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त उसमें एक असम्भव-सा शासन है—कोई भी कलाकार एवं लेखक यदि वह वास्तव में सच्चा लेखक एवं कलाकार है तो वह अपने व्यक्तित्व से अलग होकर नहीं रह सकता। उसकी कृति के एक-एक वाक्य में उसका व्यक्तित्व उबलता-सा प्रस्फुटित रहेगा । अत: समालोचक निर्लिप्त नहीं रह सकता । मूलत: 'आरनाल्ड' की परिभाषा का क्रीड़ा-क्षेत्र कल्पना की ऊँची उड़ान ही है, क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र में 'आरनाल्ड' स्वयं भी अपनी परिभाषा को चरितार्थ नहीं कर सका।

उपर्युक्त वाक्यों से समालोचना का सच्चा स्वरूप दृष्टिगत हो जाता है। संक्षेप में समालोचना कला, साहित्य तथा जीवन में अथवा जहाँ भी कहीं सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का आभास निहित है, उसकी खोज, विश्लेषण तथा व्यंजन

करती है। प्रत्येक कला और साहित्य की आत्मा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के अभिनव तत्त्व से आलोकित रहती है। इस आलोक का निरन्तर अन्वेषण तथा इसके स्तरों का पृथक्करण एवं समस्त अस्त-व्यस्त सामग्री का संश्लेषणात्मक अभिव्यंजन—यही समालोचना की चरम साधना है। समालोचना के इन तीन तत्त्वों में कला के तीन क्रम निर्दिष्ट हैं—मोटे तौर से ये तीन क्रामिक सीढ़ियाँ हैं, जिन पर विकासोन्मुख समालोचक को चढ़ना होता है। भक्त जिस प्रकार आराध्य की सिद्धि के लिए किसी निर्धारित साधना का अवलम्बन ग्रहण करता है, उसी भाँति समालोचक भी अपने चरम साध्य के लिए इस त्रिगुणात्मक साधन को पकड़ता है।

यह एक प्रकृत-सी बात हो गई है कि प्रत्येक देश के साहित्य में काव्यग्रंथों की समालोचना अधिक मिलती है; इसका एक कारण यह हो सकता है कि साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा काव्य ही प्रथम प्रादुर्भूत हुआ। हिन्दी एवं संस्कृत-साहित्य ही क्या, पाश्चात्य साहित्य में भी यही प्रतिध्वनि है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पहले समालोचना का क्षेत्र काव्य-समीक्षा तक ही सीमित था। काव्य की परिभाषा, काव्य का स्वरूप, काव्य की साधना

आदि विषयों पर ग्रंथ निर्माण करने के उपरान्त ही समालोचना का जन्म हुआ। काव्य के तत्त्वों का निरूपण तथा उसके अंतर्गत गुणों और दोषों का विवेचन—यही पहले समालोचना का लक्ष्य था। धीरे-धीरे साहित्य के अन्य अंगों का प्रणयन होने के साथ-ही-साथ तद्विषयक समालोचनाएँ भी आकारबद्ध होती गईं। समालोचना का यह क्रमिक विकास कितना स्वाभाविक एवं मधुर है। पहले उसने साहित्य-वृत्त के पुष्प-जाल को पकड़ा, फिर पत्तों तथा शाखाओं का दिग्दर्शन किया। माधुर्य से प्रारम्भ होकर दार्शनिक गांभीर्य में डूबना—एक बड़ी व्यापक एवं महती साधना है। समालोचना के इसी प्रकृत एवं आदर्श विकास में समालोचक का पथ प्रच्छन्न है। समालोचक बनने से प्रथम उसे 'मधुर' बनना है। अपने जीवन-संघर्ष की जटिलता में उसे एक प्रकृत रस का समावेश करना है, वह है हृदय की भावात्मक सहानुभूति। बिना इस रागात्मक सहानुभूति के समालोचक किसी भी लेखक के हृदय का 'मधु' तत्त्व नहीं ग्रहण कर सकता। सहानुभूति का कंपन बड़ा व्यापक है, उससे हृदय-हृदय में एक आत्मीय ग्रंथि बँध जाती है— पराये अपने हो जाते हैं, और मानव के अन्तस्तल की सारी संचित

सौरभ आँखों के सामने बिखर पड़ती है। बिना मधुरता की साधना के समालोचक किसी भी लेखक के भाव-क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। लेखक, कवि एवं कलाकार की कला उसकी अपनी अनुभूतियों की अभिव्यंजना है——कला मानवीय अनुभूति के बाह्य संस्करण के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः इस अनुभूति की व्यंजना तक अपनी अनुभूति द्वारा ही पहुँचा जा सकता है, अनुभूति की व्यंजना के सूक्ष्म तत्वों को बिना सहकारिणी अनुभूति की सहायता के नहीं स्पर्श किया जा सकता। सहानुभूति-हीन समालोचक की समालोचना वास्तविक समालोचना नहीं——या तो वह कला के बाहरी अनावश्यक प्रसंगों का सारहीन विवरण-मात्र होगी अथवा लेखक के विचारों को अपनी विचार-धारा की कसौटी पर कसने की बरबस चेष्टा। यही तो कला की हत्या है। ऐसा समालोचक समालोचना न लिखकर केवल लेखक के दोषों को बहु-गुणित करके कीचड़ छिड़कने का ही निकृष्ट प्रयत्न करता है।

समालोचक का दूसरा आवश्यक अंग है उसका शास्त्र-ज्ञान। बिना शास्त्र-ज्ञान के न तो समालोच्य ग्रंथ एवं कला के गुणों का प्रतिपादन हो सकेगा और न उसकी आवश्यकता का ही निर्देश किया जा सकेगा। शास्त्र-ज्ञान का अभिप्राय केवल

तद्विषयक शास्त्र-ज्ञान से ही नहीं है, वरन् उसमें जिस काल एवं देश का समालोच्य ग्रंथ है, उस काल एवं देश की विचार-परम्परा तथा संस्कृति-धारा का अध्ययन और साहित्य के भीतर आनेवाले सभी ज्ञान-वाद का सूक्ष्म मनन भी अत्यावश्यक है। कवि, लेखक एवं कलाकार अपनी प्रेरणा में केवल एक ही ज्ञान अथवा विचार को ही धारण नहीं किये रहते, किन्तु उस एक मूल भावना के साथ-साथ अन्य सहकारिणी भावनाएँ भी चलती रहती हैं। समालोचक को अपनी समालोचना में इन सहकारी भावनाओं को भी लेना चाहिए; क्योंकि इनके सूक्ष्म निरूपण के बिना अकेली मूल भावना का विवेचन अधूरा ही रह जायगा। इस पूर्ण विवेचन के लिए विविध अध्ययन एवं मनन की आवश्यकता है। साहित्य जीवन की कला है, आत्मा की सौरभमयी कलिका है; अतः जीवन के क्षेत्र में प्रस्थित समस्त ज्ञान-विज्ञानों तथा स्थूल दार्शनिक सत्यों का परिज्ञान समालोचक की सफलता के लिए परम वांछनीय है। उसे काव्य के भावुक क्षेत्र से लेकर मनोविज्ञान के शुष्क क्षेत्र तक पर्यटन करना पड़ता है। तभी वह लेखक के मानव-सुलभ भावों और मनोविकारों तक पहुँच सकेगा।

तीसरा समालोचक का प्रमुख तत्त्व है नीर-क्षीर-विवेक

का भाव। समालोचक एक प्रकार का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेकर चलता है—उसका पथ बड़ा संकीर्ण एवं कठिन है। उसका पथ ठीक उस पथिक के पथ के सदृश है, जिसके दोनों ओर विकट विपत्ति की सामग्री है—अर्थात् 'एक ओर जमुना गहरी और एक ओर सिंह-गर्जन'। दोनों ओर उसके लिए प्राण-संकट है। समालोचक का पथ भी इसी प्रकार दो संकटापन्न क्षेत्रों के बीच से चलता है। इसके एक ओर गुण है और दूसरी ओर दोष। समालोचक को दोनों के मध्य से जाना पड़ता है; किन्तु उसकी दृष्टि दोनों ओर रहती है। वह गुण भी देखता है और दोष भी। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक 'रस्किन' ने समालोचक का कर्त्तव्य एक न्यायाधीश के कर्त्तव्य के तुल्य बतलाया है। जिस प्रकार न्यायाधीश को क़ानून के नियमों के अनुसार निष्पक्ष निर्णय करना होता है, उसी प्रकार साहित्यिक न्यायालय के न्यायाधीश समालोचक का भी कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य से विमुख आलोचक आलोच्य विषय को ज्ञान-तुला पर ठीक-ठीक नहीं तौल सकता। इसकी उदासीनता से आलोचक छिद्रान्वेषी एवं पक्षपातमय हो जाता है। समालोचना में दलबंदी, आत्मविज्ञापन और पारस्परिक वैर-प्रतिशोध इसी दूषित प्रवृत्ति के

प्रतिफल हैं, जो कभी-कभी व्यक्तिगत गाली-गलौज का भी स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समालोचना का मार्ग कितने कंटकों से परिपूर्ण है? उसके ऊपर कितने बड़े उत्तरदायित्व हैं?

यह तो हुई समालोचक की आवश्यक गुणावली। अब समालोचना के गुणों की ओर भी कुछ दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है। आलोचना का पहला और सबसे अपेक्षित गुण है प्रस्फुटन—अर्थात् उससे पाठकों के हृदयों में वही अवस्था उत्पन्न हो जाय जो कि आलोचना लिखते समय आलोचक के हृदय में थी। यही समालोचक की कला की अंतिम परीक्षा है। दूसरा गुण है प्रकटीकरण—अर्थात् किसी रचना से जो भावना उदित हुई उसका स्वाभाविक प्रकटीकरण। तीसरा गुण है भाषा-शैली की प्रगल्भता; अर्थात् भावों के अनुकूल ही भाषा का कलेवर हो—प्रत्येक शब्द अपने-अपने स्थान से प्राण-प्रवेग प्रवाहित करनेवाला हो और सामूहिक रूप में सब मिलकर एक ही ध्वनि के तार से झंकृत हो। इन तीनों गुणों में समालोचना की परिपूर्ण आत्मा उतर आती है और सम्प्रतिभावना का एक सुष्ठु स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

यों तो हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों में भी अभाव कम नहीं है, किन्तु समालोचना का अभाव सबसे अधिक शोचनीय एवं विचारणीय है—वास्तव में यदि हिन्दी-साहित्य का कोई अंग अपांग है तो वह है समालोचना का। हिन्दी-साहित्य में समालोचना की देन गद्य के विकास का वरदान है। वैसे तो समालोचना का अस्तित्व हिन्दी-साहित्य में बड़ा प्राचीन है। भक्ति-काल के कृष्ण-भक्त कवियों ने तत्कालीन कृष्ण-साहित्य की पद्यानुबद्ध विवरणात्मक आलोचनाएँ लिखीं; उसके पश्चात् रीतिकाल की काव्य-कृतियाँ तो पूर्णतया आलोचनात्मक तत्त्व से परिपूर्ण हैं। रीतिकाल के कवियों की चरम साधना, सम्पूर्ण आराधना नायक-नायिका-भेद, रस-निरूपण, अलंकार-दर्शन तथा पिंगल-प्रबोध में ही समाप्त हो जाती है। ये पद्य-बद्ध पुस्तकें एक ओर तो काव्य के भावात्मक छोर को स्पर्श करती हैं और दूसरी ओर काव्यांगों की सूत्र रूप में मार्मिक व्याख्या करती हैं। आलोचना की यह शैली एक निजी वस्तु है। इसका तत्कालीन काव्य-कला पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ा; उसका बाह्यावरण खूब सज-धज गया। अकसर इन कृतियों पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उनमें बाह्य चमक-दमक ही है, आंतरिक तत्त्व

कुछ भी नहीं—यह दोषारोपण ठीक भी है, किन्तु इसके अस्तित्व का सम्पूर्ण दोष काव्यांगों को ही मान लिया जाय, यह एक अन्याय है। जब काव्य-ग्रंथ ही काव्यत्व से रिक्त हों तो काव्यांग उसमें किस प्रकार काव्य की आत्मा अनुप्राणित करें ?

इसके पश्चात् हिन्दी में गद्य का विकास होता है—गद्य का विकास हिन्दी में एक परम महत्त्व की वस्तु है। उसके साथ-साथ हिन्दी में अनेक नवीन-नवीन विषयों का प्रतिपादन हुआ। यदि सच पूछा जाय तो यहीं से साहित्य के परिपूर्ण युग का विकास होना है। भारतेंदु का उदय आध्यात्मिक रूप से साहित्येंदु का अपनी पूर्ण कला में उदय था। हिन्दी का पहला पत्र 'कविवचनसुधा' प्रकाशित हुआ तथा भारतेंदु के प्रयत्न से अन्य पत्रों का जन्म हुआ। मुख्यत: ये पत्र कविताओं तथा कुछ सामयिक विषयों से ही परिपूर्ण रहते थे; किन्तु अनेक बार इनमें आलोचना के अच्छे-अच्छे निबंध भी निकला करते थे। वास्तव में हिन्दी-गद्य की प्रथम आलोचना 'कविवचन-सुधा' में ही मिलती है। अपनी साहित्यिक गोष्ठी में भारतेंदु बाबू संलाप रूप में अनेक विषयों की आलोचना-प्रत्यालोचना किया करते थे। उसका कोई उल्लेख (Re-

cord) आज उपलब्ध नहीं; निश्चय वह एक महत्त्व की वस्तु होती। इसी काल में 'प्रेमघन' ने समालोचनाएँ लिखीं। पं० तोताराम के भी एक-दो समालोचनात्मक निबंध मिलते हैं। ये सब आलोचनाएँ काव्य की ही थीं; क्योंकि अन्य विषयों के प्रणयन का तो इस काल में केवल सूत्रपात ही हो पाया था—अभी तो इस नवीन साहित्यिक जागृति के मुख पर शैशव का ही चापल्य था, प्रौढ़त्व का प्रशान्त तत्त्व नहीं।

किन्तु हिन्दी के विकसित गद्य में आलोचना लिखने-वाले हिन्दी के प्रथम प्रणेता हैं मिश्रबंधु। आलोचना की दृष्टि से उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उन्हें आलोचना की सामग्री एकत्र करने में मिली। उनकी आलोचना का एक अलग ही स्वरूप है; नामकरण के लिए हम उसे इतिहासात्मक (ऐतिहासिक नहीं ?) समालोचना कह सकते हैं। इस प्रकार की आलोचना न तो निर्णयात्मक होती है और न विश्लेषणात्मक, वे अन्वेषणात्मक ही होती हैं। अत: इस क्षेत्र में मिश्रबंधुओं की साहित्य-सेवा एक महत्त्व की वस्तु है। उन्होंने अनगिनत कवियों की कृतियों को अथक परिश्रम से खोज-खोजकर हिन्दी-जनता के सम्मुख उपस्थित कर दिया—

दीन हिन्दी की ख़ाली झोली भर गई। बाद में हिन्दी-साहित्य के जितने इतिहास बने, उन सब पर मिश्रबंधुओं का थोड़ा-बहुत ऋण अवश्य है। इसी काल में 'सरस्वती' लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का उद्धार एवं नव निर्माण करने आये। हिन्दी के प्रांगण में द्विवेदीजी का आगमन हिन्दी के परम सौभाग्य की बात है। हिन्दी-गद्य को परिष्कार करने तथा सत् समालोचना का आदर्श रखने के लिए द्विवेदीजी का नाम अमर है। इस काल में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अराजकता थी, नई-नई शैलियों का प्रादुर्भाव हो रहा था; भाषा में व्याकरण की कड़ियाँ उलझ गई थीं। द्विवेदीजी के 'महाप्राण' वाले शरीर ने अपने अथक परिश्रम द्वारा सम्पूर्ण निराशा-केंद्रित वातावरण को प्रांजल-श्री बना दिया। उनकी आलोचना का काम एक चतुर माली की भाँति का था। हमारे इसी माली द्वारा काटे-छाँटे पौदे आज अपनी डालों में फूलों के अर्घ्य भरे चिर-कृतज्ञ-से खड़े हैं।

द्विवेदीजी के 'सरस्वती'-सम्पादन काल में ही पं० पद्मसिंह शर्मा ने समालोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। बिहारी पर उनका 'संजीवन भाष्य' हिन्दी की अमर निधि है। शर्माजी की समालोचना तुलनात्मक है। हिन्दी के

इस शैशव काल में तुलनात्मक समालोचना ही अधिक महत्त्व एवं लाभ की वस्तु है। तुलनात्मक समालोचना का एक विशेष गुण यह होता है कि आलोच्य पर एक बड़ा ही पूर्ण व्याख्यात्मक प्रकाश पड़ता है, जिससे उसमें एक निराली-सी व्यापकता एवं विशदता आ जाती है। किन्तु शर्माजी की शैली में उर्दू की उछलती-कूदती भावुकता अधिक है, जो समालोचना की मनोवैज्ञानिक सौम्यता से दूर पड़ जाती है। उससे केवल व्यापकता ही आ सकती है गंभीरता नहीं।

'कभी-कभी पारस्परिक वैर-विरोध भी परिणाम में प्रशंसनीय होते हैं।' इस सत्य का चरितार्थ 'देव और बिहारी' के विषय में उठी विषम भावना से है। भगवानदीनजी ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ मानकर 'बिहारी और देव' नाम की एक पुस्तक लिखी; जिसमें बिहारी को देव से अधिक उच्च कलाकार निर्णय किया। इसके उत्तर में श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी नाम की आलोचना-पुस्तक लिखी, जिसमें देव को बिहारी से श्रेष्ठतर प्रमाण दिया गया। दीनजी की आलोचना अनेक व्यक्तिगत कटु-कटाक्षों को लेकर चलती है। वे आलोच्य पुस्तक को छोड़कर व्यक्ति के ऊपर अनुचित आक्षेप करने लगते हैं,

जो एक सफल समालोचक का सुष्ठु कर्त्तव्य नहीं । मिश्रजी की आलोचना दीनजी की आलोचना से अधिक संयत एवं पूर्ण है । समालोचना के क्षेत्र की ओर मिश्रजी की शैली अधिक प्रांजल एवं प्रौढ़ लक्ष्य करती है ।

किन्तु हिन्दी में सत्य-समालोचना का युग पं० रामचन्द्र शुक्ल की लेखनी से आया । शुक्लजी से हमारा साहित्य गौरवान्वित है । उनकी समालोचनाएँ हिन्दी ही की नहीं, वरन् विश्व-साहित्य की अद्वितीय निधियाँ हैं । कवि के मानसिक एवं भावात्मक सूक्ष्म विश्लेषण एवं उन पर अपने निष्पन्न व्यक्तित्व की छाप—शुक्लजी की अपनी विशेषता है । शुक्लजी का विश्लेषण उस शुष्क-हृदय वैज्ञानिक-का-सा नहीं है, जो ज्ञान की प्राप्ति के प्रलोभन में काव्य की आत्मा एवं भावात्मा दोनों का बलिदान कर दे । शांतिप्रियजी ने अपनी शुक्लजी की समालोचना में उन्हें एक भावविहीन वैज्ञानिक क़रार दिया है ; किन्तु शांतिप्रियजी का यह जजमेंट भ्रमपूर्ण है । समालोचना ज्ञानपक्ष प्रधान वस्तु है, भावपक्ष प्रधान नहीं—यहीं शांतिप्रियजी से मतभेद होता है ।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

की सहकारिता लेकर अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया है; किन्तु समालोचक की अपेक्षा वे एक पथ-प्रदर्शक हैं, एक निर्देशक हैं। भग्नावशेष के विस्मृत गर्त में सड़ती हुई रचनाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय यदि किसी को है तो बाबू साहब को। उन्होंने हिन्दी-लेखकों के लिए समालोचना के नवीन-नवीन क्षेत्र खोज निकाले। वे समालोचक-स्वरूप अन्वेषक नहीं, वरन् अन्वेषक-स्वरूप समालोचक हैं। उन्होंने समालोचना के तत्त्वों का अन्वेषण नहीं किया, बल्कि समालोच्य पुस्तकों का अन्वेषण किया। टाल्स्टाय के विषय में एक बार गोर्की ने कहा था—

'He opened new vistas for us, new crops to reap.'

ठीक यही कथन बाबू साहब के ऊपर लागू होता है।

इन महारथी समालोचकों के शिथिल-श्रांत प्रयत्नों को नवीन स्फूर्ति देने, अभी तक इस क्षेत्र में कोई नहीं आया। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जैसे हिन्दी में समालोचना के लिए कोई विषय ही नहीं रहा हो; क्योंकि ऐसी उदासीनता तभी आ सकती है। अपनी दुर्बल अस्थि-पिंजर देह को लेकर कहीं-कहीं श्रीशांतिप्रियजी दीख पड़ते हैं,

किन्तु वे समालोचक की अपेक्षा व्याख्या करनेवाले सफल कथावाचक ही कहला सकते हैं। इधर 'गिरीश' जी ने तथा 'सुमन'जी ने नवीन हिन्दी-कवियों पर आलोचनाएँ लिखीं ; किन्तु दोनों लेखक वास्तविक समालोचना के तत्त्व को नहीं अपना सके। 'गिरीश' जी का 'महाकवि हरिऔध' हरिऔधजी के काव्य की आलोचना न होकर उनके जीवन का संस्मरणमात्र रह गई। उनकी दूसरी पुस्तक 'गुप्तजी की काव्य-धारा' एक सहानुभूति से हीन अन्यायमय कटाक्ष से पीड़ित है। 'सुमन' जी की 'कवि प्रसाद की काव्य साधना' कहीं-कहीं तो स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा की आलोचना-प्रणाली का स्मरण दिलाती है तथा कहीं-कहीं अँगरेज़ी-समालोचक 'स्टर्न' से समता स्थापित करती है। नगेन्द्रजी की 'पंत' की आलोचना कवि के मानसिक विश्लेषण पर नहीं लक्ष्य कर सकी। किन्तु सत्येन्द्र की गुप्तजी पर आलोचना-पुस्तक कवि के मनस्तत्त्व पर काफ़ी प्रकाश डालती है। इधर गुलाबरायजी तथा महेन्द्रजी की 'प्रसाद' के काव्य पर एक परिपूर्ण समालोचना-पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में समालोचना के सभी तत्त्वों की एक संतोषजनक झलक मिलती है।

किन्तु इन सब प्रयत्नों के होते हुए भी हमारी समालोचना-सम्पत्ति कितनी है ? हमारा समालोचना-साहित्य क्या है ? वास्तव में यह हिन्दी के दुर्भाग्य का द्योतक है कि उसमें कबीर, सूर, तुलसी, महादेवी, प्रसाद, निराला-जैसे कवि हों और उनकी समालोचना कुछ भी नहीं हो। कितना आघात लगता है हमारे हृदय पर, जब हम अँगरेज़ी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं और अकेले शेक्सपियर के ऊपर ही सहस्रों समालोचनात्मक पुस्तकें पाते हैं। कितना अल्प था 'कीट्स' का जीवन-काल ? और कितनी केवल गिनती की ही उसने रचना की ; किन्तु उसपर आलोचना की सैकड़ों पुस्तकें हैं। हमारी हिन्दी में यह वास्तव में एक बड़े अंश तक लेखकों का दोष है, किन्तु इसके मूल में जो एक महन् अभाव है, वह कहीं अधिक इस उदासीनता के लिए उत्तरदायी है—वह अभाव है जनता की विमुखता। जब कवियों के काव्य-ग्रंथ पढ़ने की ही रुचि एवं प्रवृत्ति समाज में नहीं है तो भला उनपर आलोचनाओं की कौन चिन्ता करेगा !

विना समालोचना की भित्ति के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। आज हिन्दीवालों के सम्मुख कर्त्तव्य पुकारता है कि यदि उन्हें अपनी मातृभाषा के प्रति कुछ

भी अनुराग हो तो वे उठें और इस दीन-हीन लता-बेलि को अपने प्राण-रस से सींचें—इसी में उनका कल्याण है, उनकी संस्कृति का निर्माण है और उनके अपनेपन का प्राण है !

हिन्दी-साहित्य का भविष्य

वर्तमान काल हमारे साहित्य का सर्वांगीण प्रगति का प्रयत्न-काल है। विश्व-साहित्य की कला-प्रदर्शिनी से अनेक आदर्श (Pattern) प्राप्त करके आज हमारे लेखक और कवि उन्हीं की रूप-रेखा में साहित्य को सजा रहे हैं। उपवन हमारे साहित्य का अपना स्वयं का विद्यमान है; किन्तु हमारे साहित्यकार उसको उसी रूप में सजाने का उपक्रम कर रहे हैं, जिस रूप में अन्य भाषाओं के साहित्य सजे हुए हैं—बृहत् रूप से हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल प्रयोग का काल है। इन प्रयोगों में से कुछ प्रयोगों का परिणाम तो अपनी महत्ता और गुरुता में हमारे सम्मुख है तथा कुछ प्रयोग अभी प्रक्रिया के पथ पर चल ही रहे हैं—उन्हीं पर यहाँ विचार करना आवश्यक

जान पड़ता है। क्योंकि हमारे साहित्य का जो भविष्य होगा, वह इन्हीं प्रयोगों के फलों का परिणाम होगा— इन्हीं उगाये जानेवाले बीजों से अंकुरित एवं पल्लवित-कुसुमित द्रुमदल का विश्व होगा; जिसमें विषैले शूल भी हो सकते हैं, और सलोनी सुरभिवाले फूल भी।

उत्क्रांति देखने में तथा अपनी प्राथमिक आभा में बड़ी मधुर लगती है; किन्तु उसका असली रूप और व्यवहार-साधन एक जटिल एवं विकट समस्या से आबद्ध रहता है। सुदूर प्रांत में खिले फूल देखकर क्रांति की उद्भावना की जाती है—क्रांति की अवतारणा की जाती है; किन्तु प्रायः उन फूलों तक पहुँचने के राजमार्ग में बिछी आपत्तियों, शंकाओं-आशंकाओं तथा आपत्तिजनक परिस्थितियों की ओर ध्यान ही नहीं रहता—फूलों की ओर दृष्टि अपलक किए हम रास्ते के शूलों को नहीं देख पाते—ठोकरें देने-वाली शिलाओं और प्रस्तरों को नहीं देख पाते; और अकसर नतीज़ा बड़ा हानिकर एवं घातक होता है। हमारा साहित्य भी उत्क्रांति के अराजक क्षेत्र में आज पल्लवित हो रहा है—उसकी बड़ी-बड़ी ज़िम्मे-दारियाँ हैं, बड़े-बड़े उत्तरदायित्व हैं और पूर्णता तथा सत्य की विदग्ध साधना है। वह हमारी संस्कृति का प्रतीक है,

समाज का प्रतिबिंब है, समय का सजीव चित्र है——अतः उसकी गति को ऐसे पथ पर आरूढ़ करना है, जिसमें जीवन के दिव्य सत्य की आभा हो और मानव-कल्याण के महत्त्व की चिरन्तन संदेशमयी लगन हो।

साहित्य सभ्यता के वृन्त पर खिलनेवाला सौरभ है, समाज की प्रगति पर फैली जीवन की सुकुमार लता है, समय के अंतःकरण से बहनेवाला चिरन्तन स्रोत है। सभ्यता, समाज और समय तीनों साहित्य में हैं और साहित्य इन तीनों में है——व्यक्तित्व-स्वरूप से यह अनिश्चित एवं अज्ञात है कि किसकी महत्ता किस पर है। तर्क की सहायता से यह कहा जा सकता है कि साहित्य इन सबका मूल एवं पुष्प है; किन्तु विश्व का इतिहास कभी-कभी इसके अपवाद भी प्रस्तुत करता है। अस्तु। किन्तु हम इतना तो बिना किसी वाद-विवाद के कह सकते हैं कि साहित्य की प्रगति में इन सबका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभ्यता के आदर्शों का परिवर्तन या उसी अवस्था में व्यापन, समाज की अवस्था और समय की गति आदि सब साहित्य के स्वरूप की रूपरेखा को व्यक्त करते हैं। हमारा वर्तमान साहित्य हमारी भूतपूर्व सभ्यता, समाज एवं समय की सृष्टि है; और हमारी वर्तमान

सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामयिक अवस्था जिस साहित्य का सृजन करेगी, वह हमारे भावी साहित्य की प्रतिमा होगी। अत: हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा? इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करने से प्रथम हमें हमारी वर्तमान अवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टि डालना है। हमारे वर्तमान के वक्ष पर उगे जो पौदे हैं, हमारे वर्तमान का जो उपवन है, उसी पर हमारे साहित्य का सुमन खिलेगा।

भारत और विश्व

विज्ञान के विकास की इस निरन्तर निखिल-व्यापकता के फलस्वरूप आज हम एक विस्तृत क्षेत्र में जीवन की साँसें ले रहे हैं। हमारा क्षेत्र आज नगर, प्रांत, देश तथा विदेश से परिवर्द्धित होकर विश्व की रंगस्थली हो गया है। आज हम अपने गीतों के अतिरिक्त विश्व-मानव के गीत भी सुन रहे हैं—आज हम विश्व के नागरिक हैं। जिस प्रकार कल हमारा उत्तरदायित्व अपने नगर के लिए था, अपने प्रांत के लिए था, अपने देश या राष्ट्र के लिए था; उसी प्रकार आज हमारा उत्तरदायित्व विश्व के लिए है—सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए

है। एक समय था, हम विश्व से दूर थे—विश्व-मानव से तटस्थ थे ; किन्तु आज हम विश्व में हैं, विश्व-मानव की पंक्ति में हमारी भी सत्ता है—और दिन-प्रतिदिन हम एक-दूसरे के निकट से निकटतर आते जा रहे हैं। हमारी सभ्यता, हमारा समाज और वह समय जिसमें हम साँस लेते हैं, सभी 'विश्व-सम्मेलन' की प्रगति के पथ पर गतिशील हैं। हमारी भावना हमारे साहित्य के स्वर में आज इसी संबंध को ध्वनित कर रही है। हमारे कवि, हमारे साहित्यकार आदि सभी अपने हृदय में यही विश्व-ऐक्य की भावना भरकर अपनी कृतियों को प्रस्तुत कर रहे हैं। आज कवि की 'कामना' अपने लिए तथा अपनों के लिए ही संचित नहीं है, किन्तु उसके सहानुभूतिमय हाथ समस्त मानवता के लिए विस्तृत हैं :

कामना-कली ले विश्व-प्यार
करती रहती सौरभ-प्रसार।

हमारा आज का समय विश्व-सम्मेलन का प्रथम क्षण है और फलस्वरूप हमारा साहित्य विश्व-साहित्य की भावनाओं का प्रथम अध्याय। हम दिन-प्रतिदिन अपना स्नेह-बंधन दृढ़तर करते जाते हैं—हम विश्व-मानव की आत्मा से अपनी आत्मा का सम्मेलन और भी आंतरिक

सूक्ष्मता से करते जा रहे हैं। अतः भविष्य में हमारे साहित्य का जो स्वरूप होगा, उसमें इस भावना का बड़ा भारी प्रभाव रहेगा।

समाजवाद की लहर

हमारे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद की व्याप्ति आज विशेष विचारणीय होती जा रही है। इसका प्रवेश हमारे राजनीतिक एवं आर्थिक राष्ट्र के लिए हानिप्रद या लाभप्रद किस प्रकार का होगा, इससे हमें यहाँ कोई मतलब नहीं—हमें साहित्य के दृष्टिकोण से यहाँ पर संक्षेप में कुछ अपना मत प्रकट करना है। सबसे पहली बात तो यह है कि साहित्य किसी भी 'वाद' की कारा में बंद नहीं किया जा सकता। कारा में क़ैद साहित्य सच्चा साहित्य नहीं होगा, वरन् वह एक पक्ष-विशेष की भावना का ही साहित्य होगा। सच्चा साहित्य पक्ष और निःपक्ष दोनों से ऊपर की वस्तु है। राजनीतिक संसार में, या आर्थिक विश्व में समाजवाद की औषधि प्रयोग में आ सकती है; किन्तु साहित्य में समाजवाद का प्रवेश—यह विचार क्या, कल्पना भी कितनी उपहासास्पद है। राजनीति और अर्थ ठोस-विश्व की वस्तुएँ—उनका संबंध मनुष्य की

बाहरी क्रियाशीलता से रहता है—शारीरिक कार्यात्मकता से रहता है ; अतः बखूबी समाजवादी-प्रक्रिया उनमें सम्मिलित की जा सकती है । किन्तु साहित्य तो सूक्ष्म भावना की अदृष्ट सम्पत्ति है—ईथर की-सी सूक्ष्म, पारे (mercury) की-सी तरल ; वह तो प्रारम्भ से लेकर अंत तक मनुष्य के अंतर से संबंध रखती है—भला समाजवादी कौन-सी बुद्धिमत्ता से तथा किस असाधारण (extra-ordinary) विधि से उसको समाजवादी घूँट पिलायेंगे । अनर्गल आदर्श और उत्तेजना (the fanatical idea- and zeal) की उद्दामता से मुक्त होकर, वास्तविकता से परे की प्रमाद-प्रवृत्ति से दूर होकर यदि विचार किया जाय तो साहित्य कब समाजवादी नहीं रहा । वह तो अपनी चिरन्तनता की डोर से समाज के साथ बँधा हुआ है । समाज की भावनाओं की सौरभ ही तो साहित्य है । फिर समाजवादी व्यक्तियों को इतना व्यग्र एवं उत्तेजक होने की आवश्यकता ही क्या है ? जब समाज की भावनाएँ इतनी विदग्ध एवं विचारणीय तथा मर्मस्पर्शी हो जाती हैं तब क्या कभी कवि का कंठ प्रशांत और मूक रह सकता है, लेखक की लेखनी चुपचाप कोने में पड़ी रह सकती है ? कवि विश्व का सबसे मर्म-संयुत, सबसे सुकुमार

प्राणी है—वह अपने आस-पास की पीड़ा से, व्यथा से, अत्याचार से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता है, अत: समाजवादियों का दोषारोपण एक क्षुद्र एवं अविचारणीय झख ही कहा जायगा।

प्रगतिशीलता का एक नया 'वाद' और आज यहाँ चल पड़ा है। इस सम्प्रदाय के प्राणी साहित्य को प्रगतिशील बनाना चाहते हैं—पर मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य कब प्रगतिशील नहीं रहा। यदि वह प्रगतिशील नहीं रहा तो फिर वह आज जीवित कैसे है—अप्रगतिशील चीज़ कभी जीवित नहीं रह सकती। अब समझ में नहीं आता है कि ये लोग किस प्रकार उसे प्रगतिशील बनावेंगे। साहित्य बनाया नहीं जाता, वरन् बनता है। मार्क्स (Carl Marx) लेनिन (Lenin) मैज़िनी (Mazini) आदि पर अभिनंदनशील (Eulogical) कविताएँ लिखना और वह भी 'बाण भट्ट' की भाषा में—यदि यही प्रगतिशीलता है तो हमारा साहित्य उसको विषवत् समझता है। सर्वसामान्य के लिए साहित्य-निर्माण करने की युक्ति जो 'प्रगतिवादी' (The so-called progressive) प्रस्तुत करते हैं—उसका कितना उपहास है। सर्वसामान्य के पूर्वज तो क्या 'असामान्य' शिक्षित (Extraordinarily

cultured) व्यक्ति भी विना कोष की सहायता के उसे नहीं समझ सकेंगे ; और कविता अनुभव करने की वस्तु है, समझने की नहीं । ख़ैर ।

हाँ, तो इस अनर्गलता की प्रगति अभी प्रारम्भ हुई है और जब तक इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होगा, तब तक शायद कुछ दिन और यही धारा, यही अराजकता (mob-rule) चलती रहे, किन्तु यह वास्तव में हमारे साहित्य का गौरव ही बढ़ा रही है । क्योंकि हमारे वर्तमान साहित्य का विरोध करके यह साहित्य की स्थायी एवं विकसित अवस्था प्रमाणित करती है ; दूसरे इसके विपक्ष में जो भावी साहित्य निर्मित होगा—वह निस्संदेह एक बड़ी ऊँची चीज़ होगी ।

प्रकृतिवाद (Naturalism) यथार्थवाद (Realism)

फ्रांस 'फ़ैशनों' का जन्मदाता है । नित नये-नये 'फ़ैशन' वहाँ सृष्ट होते हैं । सत्त्वरूप से (literally) प्रकृतिवाद भी एक प्रकार का 'साहित्यिक फ़ैशन' (literary fashion) है । 'एमिल ज़ोला' इसके जन्मदाता हैं । यह यथार्थ-वाद के आगे की सीढ़ी है—यानी यह यथार्थवाद का 'भयंकर' रूप है—मानवता और पशुता दोनों में यहाँ

कोई अंतर नहीं है। पशुता का प्राधान्य, पशुता की विजय ही इस 'वाद' का मूल ध्येय है। ज़ोला मोपाँसा, आदि इसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

दूसरा विचार करने योग्य 'वाद' है यथार्थवाद—जो प्रकृतिवाद का ही सौम्य रूप है। इसमें 'फोटोग्राफ़िक' सत्यता (photographic fidelity) को ही मुख्य स्थान दिया जाता है।

इन दोनों 'वादों' की छाया हमारे साहित्य पर पड़ने लगी है—वास्तव में आदर्शवाद और भावनावाद ही साहित्य नहीं है—वरन् यदि साहित्य में 'वाद' की ही संज्ञा रक्खी जावे तो प्रकृतिवाद एवं यथार्थवाद का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है साव-धानी से प्रयोग करने की और अपनी संस्कृति, समय और परिणाम को देखकर कार्य करने की। प्रकृतिवाद एवं यथार्थवाद में यदि कुछ उन्मुक्त दृष्टि से देखा जाय तो अनिष्टकर एवं परिहार्य कुछ भी नहीं है—गड़बड़ी उत्पन्न होती है उनके प्रयोग करने में। ज़ोला और मोपाँसा यथार्थवादी (उग्र प्रकृतिवादी) चित्रणकर्त्ता हैं; किन्तु उनके यथार्थवाद में अंकित चित्रों की नग्नता में भी एक उस नग्नता से ऊँची उत्थान की भावात्मक अनुभूति

है । उनके अनुकरण करनेवाले इसको भूल जाते हैं । अतः यदि हमको इन 'वादों' की संकेत-रेखा में साहित्य-सृजन करना है, मानव-भावना को यदि इन 'वादों' के चश्मे से देखना है तो उनको उस सत्य एवं सत्त्व के रूप में ही लें ; जो कला की प्रकृत भूमि पर स्थापित हो सके । हमें यही याद रखना है कि हम जीवन की नग्नता के चित्रण को छोड़कर जीवन के सत्य की आभा ग्रहण करें । हमारा भावी साहित्य इन्हीं दोनों प्रकार के भावों का द्वंद्व प्रस्तुत करेगा—यह निश्चयात्मक रूप से प्रमाणित करने के लिए कि जीवन का सत्य, भावना की चिरन्तन दिव्य-द्युति जिसमें होगी, वही सच्चा साहित्यवाद है—वही परम सत्य है, विजयी है ।

विज्ञान और पदार्थवाद

विज्ञान का हमारे जीवन से नित्यप्रति एक प्रगाढ़ सम्पर्क बढ़ता जा रहा है ; और फलस्वरूप में 'कारण' और 'तर्क' की भावना बड़ी शीघ्रता एवं बड़ी प्रचंडता से हमारे बौद्धिक क्षेत्र को प्रभावित कर रही है । धीरे-धीरे इस कारण की प्रकृत-विश्लेषणी दृष्टि भावना के कोमल धरातल पर भी पड़ने लगी है—परिणाम

ह है कि हमारे जीवन में भावना की अपेक्षा कारण का
ाधान्य प्रवेश पाने लगा है—अब कल्पना और भाव-
वणाता के तरल-सिंधु पर जीवन का यथार्थ अपनी सर्वाधि-
ारता प्रदर्शित करने का उपक्रम कर रहा है। पहले हम अपने को अनुभव करते थे, अपने को देखते थे, आज हम अपने को जानते हैं और अपने अस्तित्व को पहचानते । पहले हमारे सभी कार्य (विशेषकर साहित्यिक कार्य) अपने को अनुभव करने के लिए, अपने को देखने के लिए होते थे—आज वे सब अपने को जानने के लिए होते हैं। हमारी यह अपने को जानने की साधना काव्य की बनिस्बत गद्य के अधिक समीप पड़ती है—अतः भविष्य में हमारा साहित्य काव्य-प्रधान की अपेक्षा गद्य-प्रधान होगा। काव्य में एक परिवर्तन आ रहा है, वह है उसमें वस्तुवाद की अधिकता और भावना का एकाकीपन। इसको हम काव्य-धारा का परिवर्तित स्वरूप नहीं कह सकते, वरन् काव्य के ऊपर गद्य की छाप, भावना के ऊपर वस्तुवाद की प्रधानता ही कहेंगे।

इन कुछ पृष्ठों में हमने हमारे भावी साहित्य-निर्माण का दिग्दर्शन किया है—वास्तव में हमें निराश होने का कोई ठोस कारण नहीं मिला ; वरन् हमारे भविष्य की

ग्रामता, उज्ज्वलता तथा व्यापकता की ओर हमारा
। उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। हमारे मस्तिष्क-
में तो उसका प्रकाश-किरणों से आलोकित चित्र
होता हुआ प्रत्येक बार दृष्टिगत हुआ है।
रा प्रकाशमय है—आवश्यकता है जीवन के
र हमारी लगन की, त्याग की और साधना
ारी साधना हो, सत्य हमारा ध्येय हो;
न साहित्य की आत्मा है :

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं !

—महादेवी वर्मा